समालोचक

प्रधान सम्पादक

रामविलास शर्मा

आगरा, अगस्त १९५९

विषय-सूची

समालोचक

[हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक पत्र]

प्रधान सम्पादक

डा० रामविलास शर्मा

सम्पादक

राजनाथ शर्मा : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

वार्षिक मूल्य ६)] [एक प्रति : ६० नये पैसे

द्वितीय वर्ष आगरा, अगस्त १९५९ अंक ७

सम्पादकीय

परम्परा और आञ्चलिकता

"मैला आँचल" के आवरण पृष्ठ पर एक आलोचक की सम्मति छपी है : "प्रेमचंद की परम्परा में दशकों बाद यह पहला उपन्यास लिखा गया है।"

प्रेमचन्द की परम्परा ? इधर हिन्दी में आञ्चलिक उपन्यासों की काफ़ी चर्चा हुई है और इस आञ्चलिकता से "मैला आँचल" का सम्बन्ध विशेष रूप से जोड़ा गया है। प्रेमचन्द की परम्परा से इस आञ्चलि-का क्या सम्बन्ध है ?

प्रेमचंद ने बनारस जिले के गाँवों को लेकर ढेरों कहानियाँ और उपन्यास लिखे। फिर भी उनकी रचनाएँ पढ़ने पर सहसा यह बोध नहीं होता कि हम हिन्दी-भाषी प्रदेश के किसी अञ्चल विशेष के बारे में ही पढ़ रहे हैं। उनके पात्रों में आञ्चलिकता से अधिक हिन्दुस्तानीपन अथवा हिन्दीपन है। विभिन्न अञ्चलों के पाठकों को लगता है कि प्रेमचंद ने उन्हीं के यहाँ के किसानों के बारे में लिखा है। उनकी बोलीबानी में इतना ही भदेसपन रहता है कि वे शहर के न लगें किंतु विभिन्न बोलियों के आधार पर किसानों का विभाजन या लोकसंस्कृति का चित्रण करने का प्रयत्न प्रेमचन्द में नहीं है। विषयवस्तु और चित्रण के इस साधारणीकरण द्वारा प्रेमचंद एक विशाल पाठकवर्ग को अपना सके; आञ्चलिकता के साथ जो अटपटापन लगा हुआ है, वह उनमें नहीं है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाओं में आञ्चलिकता का पुट अधिक है। जहाँ-तहाँ बुंदेल-

खड़ी बोली का प्रयोग, और अधिकांश कृतियों में लोक-संस्कृति की पृष्ठभूमि से उनके उपन्यास सजीव बन गये हैं। किन्तु उन्होंने इस बात का ध्यान रखा है कि इस पृष्ठभूमि के भार से पात्र दब कर निर्जीव न हो जायं। साधारणीकरण का गुण यथेष्ट मात्रा में विद्यमान रहता है।

श्री अमृतलाल नागर ने "नवाबी मसनद" में लखनऊ के एक वर्ग-विशेष की बोली, "सेठ बांकेमल" में आगरे की—अथवा इस शहर में अपनी ससुराल के मुहल्ले की—बोली का उपयोग करके हास्यरस की श्रेष्ठ कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। "बूँद और समुद्र" में शहर लखनऊ, मोहल्ला चौक के गली-कूचों की खाक छान कर महिला-समाज की बोलियों के वह सरस नमूने पेश किये हैं कि अवध की बेगमात की बोली भी मात हो गई है। नागर जी के उपन्यासों में—विशेष कर 'बूंद और समुद्र' में—सामन्ती समाज-व्यवस्था के विघटन का मार्मिक चित्र मिलता है। विभिन्न अंचलों के पाठकों को अपने प्रतिबिम्ब भी वहाँ देखने को मिलते हैं। मिथिला के पिछड़े हुए सामन्ती समाज, उसकी घुटन, जनता का संघर्ष और उसकी नयी चेतना—इस सब का चित्रण नागार्जुन ने 'बलचनमा' तथा अन्य उपन्यासों में किया। 'बलचनमा' में नागार्जुन ने एक नयी शैली का प्रयोग किया। कथानायक अपनी मैथिल-प्रभावित खड़ीबोली में ही सारी कथा कहता है। इस नवीनता के साथ बलचनमा का चरित्र खूब उभरकर सामने आता है। भाषा की असाधारणता चित्रण को कमजोर नहीं करती।

"मैला आंचल" की भाषा-शैली मूलतः "बलचनमा" की शैली है। कुछ अंशों को छोड़ कर लेखक भी अपने पात्रों की तरह बोलता है और व्याकरण-सम्बन्धी भूलें करता है (यह कहना कठिन है कि जानबूझ कर या असावधानी से)। 'मैला आंचल' में नयी चीज है, लोकसंस्कृति का वर्णन। लोकगीतों और लोकनृत्यों के वर्णन द्वारा लेखक ने एक अञ्चल विशेष की संस्कृति का चित्र अंकित किया है। इसके साथ कथा कहने की उसकी नयी पद्धति है। वह सिनेमा के चित्रों के समान बहुत से शॉट इकट्ठे कर देता है, ये शॉट एक दूसरे से कितने विच्छिन्न हैं, इसका ध्यान नहीं रखता, एक ही अध्याय में तीन चार बार "कट" लगा कर पाठक को चौंधिया देता है। नतीजा यह कि चलचित्र में जो सम्बद्धता होती है, उसका यहाँ अभाव है। उसकी चित्रण-पद्धति यथार्थवाद से अधिक प्रकृतवाद के निकट है। गतिशील यथार्थ में कौन से तत्व अधिक प्रगतिशील हैं, कौन से मरणशील, किन पर व्यंग्य करना चाहिये, किन का चित्रण अधिक सहानुभूति से करना चाहिये, वातावरण, घटनाओं आदि के चित्रण और वर्णन में कितनी बातें छोड़ देनी चाहिये और कितनी का उल्लेख होना चाहिये—कथाशिल्प की इन विशेषताओं में "मैला आंचल" का लेखक प्रेमचन्द की परम्परा से दूर जा पड़ा है।

फिर भी "मैला आंचल" का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जो उसे प्रेमचन्द की परम्परा से जोड़ता है। बहुत कम उपन्यासों में पिछड़े हुए गाँवों के वर्ग-संघर्ष, वर्ग-शोषण और वर्ग-अत्याचारों का ऐसा जीता-जागता चित्रण मिलेगा। यह उसका सबल पक्ष है। कमजोरियों पर ध्यान केन्द्रित कर के उसके इस गुण को भुला देना भारी गलती होगी।

मैला आंचल की वन्ध्या धरती नयी सृष्टि के लिए तरसती है, उसी तरह यहाँ का सड़ा गला समाज आमूल परिवर्तन की बाट जोह रहा है। मठ के महन्त जी अंधे थे। मठ में अबोध बालिका लक्ष्मी को दासिन बना कर रखा था। "कहाँ वह बच्ची और कहाँ पचास बरस बूढ़ा गिद्ध! रोज रात में लछमी रोती थी। ऐसा रोना कि जिसे सुनकर पत्थर भी पिघल जावे।" ये मठ दास-प्रथा के क्रूर और हिंसक रूप के रक्षक हैं। मठों के साथ बँधुए के समान नर-नारी भी एक मालिक छोड़ कर दूसरे के पास पहुँच जाते हैं। एक महंत की दलील है, "लछमी का बाप जिस मठ का सेवक था वह मेरीगंज मठ के अधीन है, इसलिए लछमी पर हमारा अधिकार है।" दासों की दशा दासियों से ज्यादा अच्छी नहीं है। बालदेव मालिक की भैंस चराता था। रात

...ता था। जरा सी नींद आने पर मार को उस। रात बीतने के पहले ही फिर भैंस चराने के लिए जगा दिया जाता था। "गोदान" के किसानों की तरह "मैला आँचल" के किसान भी जमींदार और महाजन की मार से पीड़ित हैं। "दो महीने की कटनी, एक महीना मड़नी, फिर साल भर की खटनी। दबनी मड़नी करके जमा करो, साल भर के खाये हुए कर्ज का हिसाब करके चुकाओ। बाकी यदि रह जाये तो फिर सादा कागज पर अंगूठे की टीप लगाओ। सफाई करनी है सो बैल गाय भरना रखो या हलवाहा चरवाहा दो। फिर कर्ज खाओ।"

अनाज की कीमत बढ़ती है किन्तु इससे साधारण किसानों को लाभ नहीं होता। "छोटे-छोटे किसानों की जमीनें कौड़ी के मोल बिक रही हैं।" मजदूरों की मजदूरी बढ़ गई है लेकिन महँगाई उससे ज्यादा बढ़ी है, इसलिये किसी मजदूर का पेट नहीं भरता। मजदूरों के टोले इस तरह बसे हुए हैं कि धनी किसानों ने एक-एक टोले पर अधिकार कर रखा है और मजदूर दासों की तरह उनका काम करते हैं। किसी सरकारी अफसर के यहाँ काम करते हैं तो मजदूरी पाने का सवाल ही नहीं उठता। एक तहसीलदार ने गढ़े में जोंक पाल रखे थे। "जिसने तहरीर, तलवाना या नजराना देने में देर की उसे गड्ढे में चार घंटों तक खड़ा करवा दिया। पांव के अंगूठे से लेकर जांघ तक मोटे-मोटे जोंक घुँघरू की तरह लटक जाते थे।" भूख, गरीबी, बीमारी और अन्ध विश्वासों से पीड़ित इस मानवता को देख कर जो क्रान्तिकारी नहीं है, वह भी क्रांति की बातें करना लगता है। इस अञ्चल में डा० प्रशान्त रोगों की छानबीन करने आया है। चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा करता है। उसने अपने अनुभवों से जनता का रोग पहचान लिया है।

"गरीबी और जेहालत—इस रोग के दो कीटाणु।"

इस रोग का निदान ? "दरार पड़ी दीवार! यह गिरेगी। इसे गिरने दो! यह समाज कब तक टिका रह सकेगा ?" डाक्टर प्रशान्त को श्री हंसकुमार तिवारी की दो पंक्तियाँ भी याद आजाती हैं :

"दुनिया फूस बटोर चुकी है,
मैं दो चिनगारी दे दूँगा।"

वह क्रान्ति का भव्य चित्र देखता है, "गुलमुहर—आग का फल! सारी कुरूपता जल रही है! लाल! लाल!...." डाक्टर क्रान्ति करता है। जिस कमला का इलाज करता है, उसे पुत्रवती बनाने के बाद उसका वरण करता है। यह भी साहस का काम है और उससे कई पृष्ठों में गद्यकाव्य की सृष्टि होती है। किन्तु इमसे गरीबी और जहालत के कीटाणुओं का नाश नहीं होता।

गरीबी और जहालत के पुराने रक्षकों के अलावा जनता के नये शोषक उत्पन्न हो रहे हैं। प्रशान्त की प्रेमिका कमला के पिता तहसीलदार किसानों को लड़वाने और उनकी जमीन हड़पने में उस्ताद हैं। संथालों से गाँव के किसानों को उन्होंने किस तरह लड़ाया है, जातीय विद्वेष, कौमी नफरत को जमींदार कैसे अपने हित में इस्तेमाल करते हैं, इसका भरापूरा चित्र लेखक ने खींचा है। अंग्रेजों के वारफंड में तहसीलदार ने रुपया दिया, उनके भले बने रहे। कांग्रेस की सहायता भी की और उसके नेता बन गये। किसानों को मुकदमे में फँसाया और उन्हें कर्जदार बनाया।

"चारों ओर तहसीलदार साहब की जमीन!.... दक्खिन में संथालों की जमीन दखल करने के बाद पिपरा गाँव तक तहसीलदार के पेट में चला आया है।" लेकिन इस तहसीलदार के विरुद्ध जनता संघर्ष नहीं करती। संघर्ष क्या करे, लेखक की दृष्टि में वह इतनी मूर्ख है कि तहसीलदार के दाँवपेंच समझ भी नहीं पाती। राजनीतिक पार्टियों में सब नेता स्वार्थी हैं, इसलिये जनता का नेतृत्व कौन करे ? फिर भी मैला आँचल धुलकर स्वच्छ हो जाता है। एक दिन अकस्मात् तहसीलदार का हृदय-परिवर्तन हो जाता है। हर परिवार को पांच बीघे जमीन मिल जायगी। संथालों को भी जमीन मिल जायगी। इस हृदय-परिवर्तन के लिए किसी सर्वोदयवादी ने प्रयत्न नहीं किया, स्वयं तहसील-

दार ने भी नहीं । पीते काफी थे; जैसे अचानक नशे में ज्ञाननेत्र खुल गये हों !

"तहसीलदार साहब बहुत देर तक अपने कमरे में चुपचाप बैठकर कुछ सोचते हैं । फिर बाहर आकर कहते हैं, सुमरितदास ! लोगों से कह दो । हरेक परिवार को पांच बीघा के दर से मैं जमीन लौटा दूंगा । सांझ पड़ते-पड़ते मैं सब कागज-पत्तर ठीक कर लेता हूं । और संथाल टोली में जाकर कहो, वे लोग भी आकर रसीद ले जायें ! एक पैसा सलामी या नजराना, कुछ भी नहीं !" हां, तहसीलदार की लड़की कमला के लड़का अवश्य हुआ है । शायद नाती होने की खुशी में उन्होंने जमीदारी-प्रथा खत्म करने का फैसला कर लिया हो !

दुष्ट जमीदार या मिल-मालिक, उसकी खूबसूरत कोमल हृदय वाली लड़की, जमीदार या पूंजीपति के विरोधी युवक नेता से उस खूबसूरत लड़की का प्रेम, पिता का क्रोध, फिर हृदय-परिवर्तन और दोनों का विवाह—पुराने फिल्मों और उपन्यासों के कथानक से काफी मिलती जुलती यह तहसीलदार की हृदय-परिवर्तन-गाथा है ।

जनता क्या है ? गुलाम, भेड़, अन्धविश्वासी, कायर । यह सुनकर कि फरारी सुराजी को पकड़वाने से इनाम मिलता है, लोग बालदेव को रस्सियों से बांधकर ले चलते हैं । अंग्रेजों ने बड़े अत्याचार किए लेकिन गांव के नौजवानों को अभिमान है कि "हमारे गांव के पास साहब की कोठी थी ।" दूल्हा अपनी दुलहिन को कोठी की जगह दिखलाता है और उसका "चेहरा गर्व से भर जाता है ।" पंचायत में बैठे हुए लोग हाथ उठाते हैं । लेखक को लगता है, "गुमसुम बैठे हुए सैकड़ों मूक जानवरों के सिर में मानों 'अरना भैंसा' के सींग जम गये । सैकड़ों हाथ उठ गये ।" जनता पशुओं के समान है । डॉक्टर प्रशान्त सोचता है, "पशु से भी सीधे हैं ये इन्सान । पशु से भी ज्यादा खूंखार हैं ये ।" जनता लाचार है ! डाक्टर उसे बचाना चाहता है ! कम्युनिस्ट होने का आरोप लगाकर पुलिस उसे पकड़ ले जाती है । किन्तु उसका रा[illegible] कोई सम्बन्ध नहीं है । "नहीं, वह राजनीति में नहीं [illegible] । वह राजनीति के काबिल नहीं । एक बार ममता ने [illegible] करते हुए राजनीति की तुलना डाइन से की थी ।" बावनदास कहते हैं, "सब पाटी समान । उस पाटी में भी जितने बड़े लोग हैं, मन्तरी बनने के लिये मार कर रहे हैं ।" उस पाटी से मतलब है, सोशलिस्ट पार्टी । बावनदास के अनुसार उसमें "जैपरगास" बाबू अवश्य ईमानदार हैं । बाकी जो देश का काम या मजदूरों का काम करते हैं, वह स्वार्थ से । बावनदास अन्याय का मुकाबला करता हुआ अकेला शहीद हो जाता है । जनता को संगठित करके कोई कदम उठाया जा सकता है, इस का ज्ञान या इस पर विश्वास उसे भी नहीं है ।

"मैला आंचल" के लेखक का दृष्टिकोण यह है, समाज में अन्याय है, अन्ध विश्वास हैं, रचनात्मक कार्य के लिये विशाल क्षेत्र पड़ा हुआ है लेकिन प्रगति चमत्कार से ही सम्भव है, जनता या राजनीतिक पार्टियों के किए कुछ नहीं हो सकता । वह गांधीवादी बालदेव के व्याख्यानों का मजाक उड़ाता है । "पियारे भाइयो ! आप लोग जो 'अन्डोलन' किये हैं, यह अच्छा नहीं ।" मानो कोई ऐंग्लोइण्डियन पत्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन की रिपोर्ट लिख रहा हो । "गांव भर के लौंडे" झण्डा लेकर "इनकिलास जिन्दा बाघ" बोलते हुए घूमते हैं । दारोगा के आते ही "गांव के सभी जिन्दा बाघ माद में घुस गये ।" मानो पुलिस अफसर डायरी लिख रहा हो ! मंच पर कोई भगतसिंह का अभिनय करता है और बम वाला हाथ आगे बढ़ाता है तो "आगे में बैठे सभी लोग जरा करवट होकर एक दूसरे की पीठ के पीछे मुंह छिपा लेते हैं ।" ऐसे डरपोक हैं पूर्णिया के किसान ! फिर आस्था किस में ? जमीदार के हृदय में—कि यह बदल जायगा; ऐसे चमत्कारों में, जो जनता की राजनीतिक कार्यवाही के बिना उसका भाग्य पलट देंगे ।

यदि लेखक के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर आस्था के प्रश्न का उत्तर दिया जाय, तो कहना पड़ेगा

कि जनता और उसकी राजनीतिक कार्यवाही में उसकी आस्था नहीं है। उसे लोकसंस्कृति प्रिय है किन्तु इस संस्कृति के रचने वालों में उसे कहीं प्रकाश की किरणें नहीं दिखाई देती। उसे आंचल की मिट्टी से प्रेम है। किन्तु उस मिट्टी में मरने-खपने वाले उसे पशु से भी सीधे और पशु से भी ज्यादा खूंखार दिखाई देते हैं।

लेखक के इस दृष्टिकोण के बावजूद सामन्ती उत्पीड़न के विरुद्ध बढ़ने वाली जनता का एक धुंधला चित्र इस उपन्यास में देखने को मिलता है। पहले लोग तहसीलदार के डर से काँपते थे। लेकिन अब? "जमाना बदला ही नहीं, साफ उलट गया है।" उसे किसने उलटा? या अपने आप उलट गया? जमाना बदलने वाली जनता ही थी जिसके संघर्ष को लेखक साफ-साफ देख नहीं सका है। गाँव में अब नये नारे सुनाई देने लगे हैं—

कमाने वाला खायेगा, इसके चलते जो कुछ हो।
किसान राज: कायम हो।
मजदूर राज: कायम हो।

इस तरह के नारे लगानेवाले कालीचरन जैसे लोग हैं जो किसानों के ही बेटे हैं। संथालों ने भी सुना है, "जमीन जोतने वालों की।" लेखक ने संथालों की स्वच्छता, नृत्यकला और वीरता का सुन्दर वर्णन किया है। वे भी भारतीय जनता के अंग हैं। यह असंभव है कि वे जमीन पाने के लिये जमींदार के हृदय-परिवर्तन की ही राह देखते रहें। होली में गाँव के ही लोग राजनीतिक गीत रचकर गाते हैं:

चर्खा काटो, खद्दड़ पहनो, रहे हाथ में झोली
दिन दहाड़े करो डकैती बोल सुराजी बोली—जोगी
सर र र र!

इन गीतों से यह तो नहीं मालूम पड़ता कि इस जनता को हमेशा ठगा ही जा सकता है। मठ में एक नागा बाबा आये। लछमी को खूब गालियाँ सुनाईं। भावी महंत को खड़ाउवों से पीटा। रात को लछमी की कोठरी की ओर भी जाते हैं। बालदेव लछमी की सहायता नहीं करते। लेकिन कालीचरन विरोध करता है। नागा उसे गाली देता है तो कामरेड बासुदेव उछल कर डाटता है, "चुप रह बदमास!" "नागा बाबा दाढ़ी छुड़ाते हैं। जटा छुड़ाते हैं, थप्पड़ों की मार से आँखों के आगे जुगनू उड़ते नजर आ रहे हैं। गाँजे का नशा उतर गया है। आखिर, दाढ़ी और जटा नोंचवा कर, कुल्हाड़ा छोड़कर ही भागते हैं।" जमाना उलट गया है। किसी ने सुना था, मठ में ही संतों पर हाथ पड़े हों? लोग अब व्यभिचार और अनाचार को तरह देने के लिये तैयार नहीं हैं। नये महन्तजी जब लछमी से कहते हैं, "नये महंत की दासी बनकर तुम्हें रहना होगा। तू मेरी दासिन है।" तब "चुप कुत्ता!" कहते हुए "लछमी हाथ छुड़ाकर रामदास के मुँह पर जोर से थप्पड़ लगाती है! दोनों पाँवों को जरा मोड़कर, पूरी ताकत लगाकर रामदास की छाती पर मारती है। रामदास उलट कर गिर पड़ता है।... सतगुरू हो!" दासदासी बगावत कर रहे हैं। तिब्बत में लामाओं के विरुद्ध नहीं, हिमालय के इसी पार बिहार के महंतों के विरुद्ध!

गांव के लोग अशिक्षित हैं किन्तु उनमें शिक्षित पैदा हो रहे हैं। उनमें जातिवाद का जोर है किन्तु मानवता के धरातल पर एक दूसरे की सहायता करने वाले भी हैं। प्रेम और विवाह को लेकर पग-पग पर सामन्ती बन्धन जनता को बांधते हैं लेकिन इन बंधनों को तोड़ने वाले भी पैदा हो गये हैं। लोग ताड़ी पीते हैं, गाली-गलौज करते हैं लेकिन उनमें होशहवास वाले भी हैं। और "जिन्दाबाद" को ऐसे गाँव में, जहाँ कांग्रेस और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के अलावा वामपंथी पार्टियों के लोग भी हैं, जनता "जिंदा बाघ" समझती है, सरासर झूठ है।

आञ्चलिकता के नाम पर जो कुछ लिखा जाय, वह सभी सच नहीं होता। जनता के अंधविश्वासों को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया गया है, जमींदार के अत्याचारों को कम करके पेश किया गया है, राजीतिक पार्टियों के दोषों को अतिरंजित और गुणों को नजरन्दाज किया गया है। उपन्यास का पहला हिस्सा आज़ादी मिलने से

पहले का है। तब तक सोशलिस्ट कांग्रेस में ही थे। लेकिन उपन्यास में उनका चित्रण इस तरह किया गया है मानो कांग्रेस से उनका कोई सम्बन्ध न हो। देश के आजाद होने से पहले ही (पृ० २३१ पर) यह लिखा मिलता है, "जमींदारी प्रथा खतम हो गई।" उस समय संथालों या गैर-संथालों के ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। उपन्यास का क्षेत्र मिथिला और बंगाल के बीच के प्रदेश का एक गाँव है। यहाँ के लोग मैथिल बोलते हैं या भोजपुरी? "खंजड़ी बजा के गीत गवैछी" से मालूम होता है कि लोगों की भाषा मैथिल है। किन्तु भगवान भगत कहता है, "अरे ई तो दस आदमी के काम बा, जे बा से एकरा में सब के मिल के मतत करे के चाहीं। का हो सीप्रसाद?" भगताइन कहती है, "ई कौन देस के आदमी बा रे दैवा! हुँडार जैसन मुँह बा।" मठ का भंडारी कहता है, "दाल घी से बघारल है।" और लोकगीतों में "चढ़ली जवानी मोरा अंगअंग फड़के से कब होइहैं गवना हमार रे भउजिया।"

अथवा—

"देसवा के खातिर मजरूल हक भइले फकिरवा हो,
दीन भेले रजिन्नर परसाद देसवासियो।"

इन उदाहरणों से लगता है कि पूर्णिया का यह भाग मिथिला से अधिक भोजपुरी अंचल के अन्तर्गत है।

"मैला आँचल" और "परती-परिकथा" का अंचल एक है। "मैला आंचल" में हम उस बड़े मैदान के दर्शन करते हैं जो "नैपाल की तराई से शुरू होकर गंगाजी के किनारे खतम हुआ है। लाखों एकड़ जमीन वन्ध्या धरती का विशाल अंचल!" डाक्टर प्रशान्त लिखता है, "लाखों एकड़ वन्ध्या धरती, कोशी कवलित मरी हुई मिट्टी शस्य श्यामला हो उठेगी।" ममता—उपन्यास के अन्त में—देखती है, "विशाल मैदान!··· वंध्या धरती!····यही है वह मशहूर मैदान—मैदान से शुरू होकर गंगा के किनारे तक—वीरान, धूमिल अंचल।" यद्यपि इस मैदान का बार-बार उल्लेख किया गया है, किन्तु कथावस्तु से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। "परती: परिकथा" की परती यही मैदान है। वही अंचल, वैसे ही लोग, वैसी ही बोली-बानी। कथा के समय में लगभग दस वर्ष का अन्तर है। गाँव में आठ ग्रेजुएट, दो एम० ए०, एक शास्त्री (काशी विद्यापीठ), पचास मैट्रिक्युलेट, एक सौ मिडिल पास हैं। सात-आठ हजार की आबादी में इतने लोगों का शिक्षित होना साबित करता है कि गाँव उन्नत है और परती पड़ी हुई धरती के कारण उसकी शिक्षा की प्रगति में कोई विशेष बाधा नहीं पड़ी। वैसे "मैला आंचल" के पिछड़े हुए गाँव में भी कम से कम पोशाक के मामले में पुरुष वर्ग काफी प्रगतिशील था, "कपड़े के बिना सारे गाँव के लोग अर्धनग्न हैं। मर्दों ने पैंट पहनना शुरू कर दिया है···।" जैसे यूरोप की किसी रानी ने कहा था, लोगों को रोटी नहीं मिलती तो केक क्यों नहीं खाते?

दस साल में इस अंचल के लोगों ने भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी कुछ उन्नति की है। "मैला आंचल" में "गाँव भर के लौंडे····'इनकिलास जिन्दाबाघ' करते हुए" गांव में घूमते हैं। "परती : परिकथा" में फेंकनी की मां इनकलाब का अर्थ समझाते हुए ध्वनि-परिवर्तन करके कहती है, "आब ऊ जमाना नहीं है कि बामन-छतरी मनमानी करे और सोलकन्ह लोग—आ कि देखो, छोड़ के बात कहे! इनकिलाफ तो इनकिलाफ।"

"परती:परिकथा" में "मैला आंचल" के गुण प्राय: लुप्त हो गये हैं और दोषों का पूर्ण विकास हो गया है। अनेक अंशों को पढ़कर लगता है कि लोकगीतों पर लेख लिखा जा रहा है। कथा का सूत्र और भी जल्दी-जल्दी टूटता है। भर्ती के अंश ज्यादा हैं। लेखक सुनता है, देखता है लेकिन अपने इन्द्रियबोध को बुद्धि की सहायता से व्यवस्थित नहीं करता। तरह-तरह की आवाजों की नकल हास्यास्पद हो गई है।

"भट-भट भर्र-र्र-र !!"

"टप्पा-टप्पा-ट : ट : ट : ट : ट : टप्पा-टाट्रि! ···क्रेंक !!"

"धुर्र-धुर्र-धुर्र-धुतु-धुतु-धुतु-तू- उ-उ-उ।·······कुँ-हुँ-ऊँ !!"

"ट्रिप-टि-रि-रि-रि….।"

"ईं-हिं-ईं-ईं !! हुँय-हुँय-हुँय-हुँय-हुर्र-र्र-र्र-र्र !!…धू-धू-धू-धू-धू-धु-र्र-र्र-र्र-र्र-र्र !!….कुँय-कुँय-कुँय-हुँ-हुँ-हुँ-हुँ….!!"

इस तरह की पंक्तियों को एकत्र करके अति प्रयोग-वादी कविता का उत्कृष्ट नमूना अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है।

"परती : परिकथा" में अनेक परिकथाएं हैं जिनमें हीरो जित्तन की अंग्रेज मां की कहानी काफी सनसनीखेज़ है। परती में पानी भरे गड्ढों की तरह इस निबन्धमूलक उपन्यास के विवरण-वीरान में यूरोप और भारत के दो प्रेमी जीवों की मर्मगाथा पाठक के लिये मृतसंजीवनी का काम करती है।

उपन्यास में अनेक रेखाचित्र अच्छे हैं किन्तु वे बिखरे हुए हैं। कब कौन सा रेखाचित्र सामने आ जायगा, पाठक कल्पना नहीं कर सकता। पाठक उपन्यास के आरम्भ में ही लुत्तो से परिचित होता है। वह जित्तन का प्रमुख विरोधी और कथा का खल नायक है। लेकिन उसका रेखाचित्र दिया गया है, साढ़े तीन सौ पृष्ठों के बाद !

उपन्यास का हीरो है जित्तन। "जमीदारी खत्म हो गई। सेमलबनी पर सरकार का कब्जा हो गया है।" फिर भी—"इस गांव के सामने फैली विशाल परती की डेढ़ हजार बीघे जमीन का मालिक अकेला वही है।" यह परिकथा इसी जमीदार की जमीन की है। जित्तन इस परती को वृक्षों से, खेती से हराभरा देखना चाहता है। गाँव वाले ऐसे मूर्ख हैं कि उसका व्यर्थ विरोध करते हैं और एक बार उसे ढेले तक मारते हैं। जित्तन बड़ा अकेलापन महसूस करता है। नट-बाला ताजमनी कालीमाई की बड़ी पूजा करती है लेकिन इलियट के वेस्ट लैण्ड के मछुवा राजा की तरह उसका पुरुषत्व सोता ही रहता है। "मैला आंचल" के प्रशान्त की तरह उसका प्रेम सफल नहीं होता। असल में जित्तन अब भी अपनी मां के आंचल से बंधा हुआ है। "श्यामा पूजा के दिन मां की देह से मनोहारी गन्ध निकलती ! रह-रह कर तीव्र हो उठती।…. मतवारा करे, आत्महारा मोरे—तोहर ऽ वदन ऽ सुरभि मा गो ! जितेन्द्रनाथ हठात अवनी मां का आंचल पकड़कर हठ करता—थोड़ी देर आंचल सूँघने दो अपना। मां !" फ्रायड-चिकित्सालय के आउट-डोर पेशेंट जित्तन को "इलियट की 'कॉकटेल पार्टी' की कुछ पंक्तियाँ स्मरण" हैं और उसके बाग में "एक नयी जाति का नागफणी उग आया है।" "रेयर कैक्टस !" "काली नागफणी"। सभी प्रतीकों से लैस है वेस्टलैंड का विफल-मनोरथ मछुवा राजा। राजनीति के सन्दर्भ में सार्थक बात कहते हैं राजा कामरूप नारायण, "मुझे क्या मालूम कि एक हिजड़े से मिलने जा रहा हूं। परती की तरह निपट्ट निकले तुम !" परती बाहर ही नहीं, जित्तन के भीतर भी है। उसकी सिंचाई में सिर्फ तीन सौ रुपये माहवार खर्च होता है—"तीन सौ रुपये प्रति मास शराब के लिए देना पड़ता है, शाह कम्पनी वालों को।"

इलियट की तरह जित्तन भी अपना इलाज न कराके धरती के साथ समाज को भी वीरान समझ बैठता है। "विचारशील नौजवानों के मन में इरावती और जितेन्द्र की बातें घर कर गई हैं।" वे महत्वपूर्ण बातें कौन सी हैं ? "प्राण नहीं, अनुभूति नहीं ? अब मनुष्य को यंत्र चला रहा है। [एक ट्रैक्टर है जित्तन के पास; एक मूवी कैमरा और टेपरेकार्डर उसके दो मित्रों के पास। यदि ये तीनो अपने मालिकों को चलाते तो कथा का गठन कुछ-कुछ वैसा ही होता जैसा इस परिकथा में है।]…टेकनॉलोजी के युग में हम लोग जीवन उपभोग का मूल तकनीक ही खो बैठे हैं ! हजारों हजार जनता के बीच भी हरेक आदमी विच्छिन्न है, अकेला है। हंसी-खुशी, उत्तेजना अवसाद, आनन्द-उल्लास सभी यांत्रिक !" यहाँ तक कि रेणु जैसे कलाकार लोक-गीतों और लोकनृत्य का वर्णन करते हैं तो वह भी यांत्रिक लगता है ! इस यांत्रिकता से बचने का उपाय क्या है ? "समाज को मानवीय और मनुष्य को सामाजिक बनाना ही मुक्ति का एकमात्र पंथ है !"

मानवीय समाज के मुक्ति-पंथी सामाजिक मानव जित्तन की डेढ़ हजार बीघा जमीन का क्या होगा ? इस तरह के प्रश्न अप्रासंगिक हैं। झगड़ा न तो किसान ज़मींदार का है, न मजदूर-पूंजीपति का, झगड़ा है हर आदमी का दूसरे से, अपने से, क्योंकि हरेक आदमी विच्छिन्न है, अकेला है! डेढ़ हजार बीघे का प्रश्न राजनीतिक है। राजनीति से समाज को न तो मानवीय बनाया जा सकता है, न मानव को सामाजिक। इरावती को देखिये। देश के बँटवारे के बाद से खानाबदोश है। "बिहार में एक राजनीतिक पार्टी में काम करने लगी।...दस महीने में ही उसने तीन राजनीतिक पार्टियों से अपना रिश्ता जोड़ा और तोड़ा। कहीं भी चैन नहीं! किसी पर विश्वास नहीं!....उसका विश्वास-हीन मन धीरे धीरे उसके व्यक्तित्व को लील रहा है। कुण्डली मार कर बैठा हुआ सांप।" वैसे सारा दोष राजनीतिक पार्टियों को ही नहीं दिया जा सकता। इरावती ने बहुत प्रयत्न किया कि जित्तन से सम्बन्ध जुड़े किन्तु असफल हुई। जित्तन निकला पूरा कैक्टस। "जितेन्द्र अकेलेपन के अन्धकार से बाहर निकलना चाहता है।" किन्तु अन्धकार दिखाई देता है उसे राज-नीति में। "सांस्कृतिक जीवन पर राजनीतिक प्रभाव अवश्य पड़े हैं। किन्तु, उसकी काली प्रतिच्छाया सर्व-ग्रास नहीं कर सकी है, अभी भी!....जितेन्द्र हिजड़ा नहीं! [आमीन! आमीन!] वह अपनी शक्ति पर फिर से विश्वास करने लगा है।"

राजनीति की शकल कितनी भद्दी है, मानों यह दिखाने के लिये ही विधाता ने कुबेरसिंह की मुखाकृति रची थी। अवकाश के क्षणों में वह "अपने चेहरे पर जामुन की तरह उभरे व्रणों से रस या कील निका-लता!" जम्बूफलधारी आकृति के ये सज्जन कौन हैं? "प्रगतिशील समाजवादी पार्टी का प्रधान संस्थापक श्री कुबेरसिंह!" जम्बूफलों के बावजूद "अनिमा आठवीं लड़की थी जिसको कुबेरसिंह ने प्यार से पुच-कार कर लव का सिगनल दिखलाया था।" जितेन्द्र ने नयी पार्टी बनाने में बड़ी मदद दी। लेकिन अपने षड-यंत्र से कुबेर सिंह जित्तन को पार्टी से निकलवा देता है। जहाँ तक कम्युनिस्टों का सम्बन्ध है, वे कुबेरसिंह से बहुत ज्यादा खूबसूरत नहीं हैं। पीताम्बर झा ने अपना नाम रखा है—मकबूल। नुकीली दाढ़ी रखाई है क्योंकि लेनिन के भी ऐसी ही दाढ़ी थी। "मकबूल खुद कैंची रेजर से तराशता है, लेनिन की फोटो सामने रख-कर, उससे एकदम मिलाकर।" फैशन में काफी पिछड़ा हुआ है मकबूल। स्तालिन की मूंछों के बदले लेनिन की दाढ़ी की नकल करता है! उर्दू बोलने की धुन में भरसक हर अक्षर के नीचे नुक्ता लगाता है। "क़म्युनिस्ट", 'क़ौन' "लिखेंगा" यहाँ तक कि "ज़य ज़नता"। हास्य रस की सृष्टि करने में रेणुजी थोड़ा स्वयं हास्यास्पद हो गये हैं।

जम्बूफल और नुकीली दाढ़ी वाले इन चेहरों से कितना भिन्न है श्री जितेन्द्रनाथ उर्फ जित्तन का मुख-मंडल। इरावती सोचती है, "शक्ति की सुन्दरता से आलोकित मुखमंडल, मानवप्रीति से भरपूर स्वस्थ आत्मा।" उसका विरोधी लुत्तो उसके मुखाकर्षण से डरता है, "जित्तन को एकबार नजदीक से देख लेने के बाद लोगों को न जाने क्या हो जाता है।" राजनीति के लिये उसने क्या क्या नहीं सहा। "अगस्त आन्दोलन में अंडरग्राउन्ड पार्टियों से नाता जोड़ने की चेष्टा में तीन बार पिस्तौल के मुंह से बचा।....१९४३ में गिरफ्तार होकर जब जेल गया!....तीन साल तक वह पुराने सेल में पड़ा खाँसता रहा, किसी ने उसकी खोज भी नहीं की।....पांच वर्षों तक पटने में डटा रहा जितेन्द्र। छद्मनाम से लेख लिखता—राजनीतिक, साहि-त्यिक तथा सामाजिक!"

"परती परिकथा" के आवरण पृष्ठ पर रेणुजी के परिचय में लिखा है कि "सोशलिस्ट पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में" राजनीतिक कार्य किया, फिर बीमार रहे, "१९५३ में आरोग्य लाभ के बाद राज-नीति को पूर्ण रूप से तिलांजलि देकर लेखक-कार्य में प्रवृत्त हुए।"

(शेष पृष्ठ २७ पर)

ज़िवागो प्रकरण

श्री अमृतराय

पिछले दिनों डाक्टर ज़िवागो को लेकर जितना शोर मचा उतना तो नागासाकी पर ऐटम बम गिरने के वक्त भी नहीं मचा था। यकबयक उसने शीत-युद्ध में इतनी गर्मी पैदा कर दी कि वह गरीब जो साहित्य का ककहरा भी नहीं समझते थे, वह भी गोया पागल से हो गये और जिधर निकल जाइए बस एक इसी चीज़ का चर्चा था।

सवाल यह है कि इस कदर वावेला मचा क्यों? इस किताब में आखिर ऐसी क्या बात है?

किताब में क्या है इसका ज़िक्र तो अभी होगा ही लेकिन एक बात इस सिलसिले में गौर करने की यह है कि ज़िवागो के बारे में शोर मचा उसकी वजह अगर रुपये में चार आना किताब के पन्नों में बन्द उसकी अपनी बारूद थी तो बारह आना ठण्डी लड़ाई की ठण्डी बारूद थी जिससे फ़िज़ा में तनाव बराबर बना रहता है।

बड़े मनोयोग से इस किताब को पढ़ जाने पर दो एक बातें बिल्कुल साफ हो जाती हैं:

१—नोबेल पुरस्कार देने वाले कितना ही इस बात को ढंकना चाहें कि पुरस्कार उन्होंने डा० ज़िवागो पर नहीं बल्कि पास्तरनाक के सम्पूर्ण कृतित्व पर दिया है, जिसका मुख्य अंश कविता है, इस बात से इन्कार करना मुशकिल है कि पुरस्कार ज़िवागो पर ही दिया गया है, अगर पूरी तरह नहीं तो मुख्य रूप से। जिस तरह से इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ और जिस समय नोबेल पुरस्कार की घोषणा की गयी, उस सबका असंदिग्ध संकेत इसी बात की तरफ है। और यह पुरस्कार पुस्तक के साहित्यिक गुणों के कारण जितना दिया गया है उतना ही शीत-युद्ध के राजनीतिक कारणों से भी दिया गया है यानी इसलिए कि पुस्तक में सोवियत समाज-व्यवस्था, अक्तूबर क्रान्ति और मार्क्सवाद की तीखी आलोचना है। साहित्यिक कृति के नाते पुस्तक के महत्व से इन्कार नहीं और हम आगे चलकर इसके बारे में कहेंगे भी लेकिन इस स्थल पर यह बतला देना अप्रासंगिक न होगा कि अगर हम रूस के लेखकों को ही लें तो उनमें ताल्सताय, चेखोव और गोर्की को भी नोबेल पुरस्कार के योग्य नहीं समझा गया! यह इतिहास की बात है। नोबेल पुरस्कार की स्थापना १६०१ में की गयी, ताल्सताय का देहान्त १६१० में, चेखोव का देहान्त १६०४ में और गोर्की का देहान्त १६३६ में हुआ। यह लक्ष्य करने की बात है कि उनको नोबेल पुरस्कार देने का ध्यान पुरस्कार देने वालों को नहीं आया, जब कि इससे उनके पुरस्कार का ही मान बढ़ता और इसके विपरीत (केवल उदाहरण के लिए) उन्होंने एक वर्ष साहित्य का पुरस्कार चर्चिल को दिया और एक वर्ष इवान बुनिन को (शायद इसीलिए कि वह सोवियत रूस से भागा हुआ लेखक था क्योंकि और तो कोई बात उसके अन्दर थी नहीं!)

२—इस पुस्तक को लेकर और भी ज्यादा हल्ला इसलिए मचा कि इसको रूस में प्रकाशित नहीं किया गया। सोवियत समाज-व्यवस्था की तीखी आलोचना करने वाले दो उपन्यास—एरेनबुर्ग का 'थॉ' और डूडरिंटसेव का 'नाट बाइ ब्रेड अलोन'—डा० ज़िवागो के पहले प्रकाशित हो चुके थे। उनको लेकर अन्तरराष्ट्रीय पैमाने पर कुछ खास बमगोले नहीं छूटे, यहाँ वहाँ कुछ चर्चा जरूर हुई लेकिन बस। जहाँ इस बात से इन्कार नहीं कि डा० ज़िवागो ने अक्तूबर क्रान्ति और मार्क्सवाद के जीवन दर्शन को लेकर बिल्कुल जड़ पर ही आघात किया है जब कि अन्य दोनों पुस्तकों ने व्यवस्था के अन्दर घर करके बैठ जाने वाली नौकर-

शाहियत और खुशामद परस्ती की ही बखिया उधेड़कर सन्तोष कर लिया है—जिस कारण से उनका प्रकाशन तो अपने देश में हुआ लेकिन ज़िवागो का प्रकाशन संभव न हो सका—वहाँ यह बात भी तय है कि अगर जिवागो का प्रकाशन किसी प्रकार सोवियत रूस में संभव हो सकता तो हरगिज उसको लेकर इतना तूफान न उठता। (यह बिल्कुल दूसरा सवाल है कि प्रकाशन संभव था या नहीं। उसके बारे में हम अलग से दो शबूत कहेंगे।) इतना ही नहीं अगर सोवियत नेताओं ने अच्छी तरह पास्तरनाक को पुरस्कार ले लेने दिया होता, तो भी यह सब वावेला न उठता।

मगर वह सब खैर जो हो, और जिस भी वजह से उसको नोबेल पुरस्कार दिया गया हो, पुस्तक का अपना महत्व उससे अलग चीज है और इसमें शक नहीं कि 'डा० जिवागो' ने कलाकार की स्वाधीनता के प्रश्न को बड़ी तेज़ी से उठाकर सामने रख दिया है और उसका जवाब समाजवादी देशों को देना ही होगा। पुस्तक का ऐतिहासिक महत्व इसी बात में है। संकटकालीन परिस्थिति का तर्क अब जरा मुशकिल से चलेगा, इसकी आशा छोड़ देनी चाहिये। १९५९ और १९१९ के बीच चालीस वर्षों का अन्तराल है। जो कायदे-कानून, पाबन्दियाँ १९१९ में सही थीं या सही हो सकती थीं वह १९५९ में भी सही हों, यह जरूरी बात नहीं है। तब इस नयी समाजव्यवस्था के आरम्भिक दिन थे, चारों ओर से उस पर आक्रमण हो रहा था, उसका अस्तित्व ही खतरे में था—उस आपत्काल में अगर इस व्यवस्था ने अपने नागरिकों पर, जिनमें लेखक भी शामिल है, कुछ पाबन्दियाँ लगायीं तो मैं इसमें कोई बुराई नहीं देखता और बात में खुले आम कहना चाहता हूँ। एक काल्पनिक निरपेक्ष स्वाधीनता के नाम पर मैं इतिहास की एक इतनी बड़ी उपलब्धि को, जिसने सम्पूर्ण मानवजाति की सुख-सुविधा के दरवाजे खोल दिये हों, खतरे में डाल देने के लिए तैयार नहीं हूँ। आसमान नहीं फटा पड़ता, वह निरपेक्ष स्वाधीनता कुछ देर उस बाहर वाले कमरे में बैठकर इन्तजार कर सकती है। ठीक बात है, मुझे कोई आपत्ति नहीं। लेकिन सवाल है कब तक? इन चालीस सालों में सोवियत सत्ता ने न जाने कितनी तरक्की की है, गरीब से गरीब आदमी को इन्सान की तरह जीने का हक दिया है मौका दिया है, ऐसी कल्पनातीत औद्योगिक उन्नति की है कि सारी दुनिया के वैज्ञानिक दांतों तले उंगली दबाते हैं, आज अगर वह दुनिया की सबसे मजबूत ताकत नहीं तो दो सबसे मजबूत ताकतों में से एक है, उसकी सैन्य शक्ति भी किसी से उन्नीस नहीं है। यह सब छोटी बातें नहीं हैं। इतना ही नहीं, जहाँ अब से चालीस बरस पहले वह संसार की अकेली समाजवादी सत्ता थी वहाँ अब और भी कितने ही समाजवादी देश हैं जिनमें चीन-जैसा पैंसठ करोड़ की आबादी-वाला एक जागा हुआ महादेश है। अंधा भी अब इस बात को देख सकता है कि सोवियत का अस्तित्व खतरे में नहीं है और अगर वह खतरे में है तो सारी दुनिया का ही अस्तित्व खतरे में है। एक खतरा होता है असलियत में—वह तो अब है नहीं। दूसरा होता है दिमागी पैमाने पर—वह अगर है तो उसका इलाज करने की ज़रूरत है क्योंकि वह एक बीमारी है। इस बीमारी का इलाज करने की ज़रूरत इसलिए और भी है कि इस बीमारी की वजह से मुक्त चिन्तन पर जो बन्दिशें वहाँ पर लगायी जाती हैं वह बाहर की दुनिया के लोगों को अच्छी नहीं मालूम होतीं और इस तरह उनके कारण साम्यवादी विचारधारा के फैलने में रुकावट पैदा होती है। जो चीज़ किसी समय औषधि रही होगी वह अब इतना समय बीत जाने पर विष बन गयी है। और अगर इस विष को विष जानकर अलग नहीं कर दिया जाता तो फिर सोचना पड़ता है कि सम्भव है ज़िवागो की इन पंक्तियों में कुछ सच्चाई हो :

'....इतिहास की रचना कोई नहीं करता। तुम इतिहास की रचना नहीं कर सकते, और न तुम इतिहास को देख ही सकते हो, उसी तरह जैसे तुम घास को उगते नहीं देख सकते। युद्ध और क्रान्तियाँ, सम्राट् और रोबेस्पियर, इतिहास के सक्रिय वाहक होते हैं,

इतिहास का खमीर। लेकिन क्रान्तियों की रचना ऐसे कट्टर कर्मवीरों के हाथ होती है जिनका दिमाग़ बस किसी एक पटरी पर दौड़ना जानता है, जिनकी बुद्धि इतनी संकुचित होती है कि (अपनी एकाग्रता में) प्रतिभा के बिन्दु पर पहुँच जाती है। पुरानी व्यवस्था को वह कुछ घंटों या कुछ दिनों में उलटकर रख देते हैं, सम्पूर्ण उथल-पुथल में बस कुछ हफ्ते या कुछ साल लगते हैं लेकिन उसके बाद न जाने कितने दशकों, कितनी शताब्दियों तक उस संकुचित भावना को पवित्र जानकर उसकी पूजा की जाती है जिसने वह उथल-पुथल करायी थी।।''''(पृ० ४०६)

लगता है कि पास्तरनाक ने यह बहुत लगती हुई बात कही है।

यह ठीक है कि जब तक सोवियत रूस में सभी या लगभग सभी प्रकाशन सरकारी होता है तब तक इस तरह की किताब का प्रकाशित होना कठिन है जिसमें यों खुले आम बोलशेविक क्रान्ति और सोवियत समाज-व्यवस्था और मार्क्सवाद तक की निन्दा की गयी हो—वैसे ही जैसे हम भारत सरकार से आशा नहीं कर सकते कि वह अपने यहाँ से ऐसी कोई पुस्तक प्रकाशित करे जिसमें गान्धी जी या पण्डित नेहरू और राष्ट्रीय आन्दोलन को बुरा-भला कहा गया हो। लेकिन प्रश्न यह है कि सरकारी प्रकाशन-संस्थाओं के अलावा और प्रकाशन संस्थाएं क्यों नहीं हैं? इसमें ऐसी डरने की क्या बात है कि सभी तरह की पुस्तकें प्रकाशित हों? अपने पाठक-समाज की सुबुद्धि और सुरुचि पर आप विश्वास क्यों नहीं करते? आखिर कब तक निवाला बनाकर उसके मुंह में देते जाइएगा? बहस के लिए थोड़ी देर को अगर यह मान भी लें कि यह किताब शुद्ध जहर है, पोटेशियम साइनाइड है, तो भी क्या हुआ बाज़ार में पोटेशियम साइनाइड मिलता है इसी मारे हम आप जाकर उसे खरीदकर खा तो नहीं लेते? चालीस बरस बाद भी अगर आप अपने पाठक को वयस्क नहीं मान पाते, उसकी सुरुचि और सुबुद्धि पर भरोसा नहीं कर पाते तो इसका मतलब है कि आपने उसको अपने विवेक से स्वतन्त्र निर्णय करने का अवसर नहीं दिया, क्योंकि बुद्धि इसी तरह परिपक्व होती है। असत् के साथ संघर्ष करने में ही सत् सच्चे अर्थों में पुष्पित और मंजरित होता है और विवेक का ही दूसरा नाम सदसद्निर्णय है, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ विवेक के प्रस्फुटन के लिए असद् की स्थिति आवश्यक मानी गयी है। इसी बात को मिल्टन ने विचारों की स्वाधीनता से ही सम्बन्ध रखने वाली अपनी पुस्तक 'ऐरियोपेजिटिका' में इन शब्दों में कहा है:

'मैं भागे भागे फिरने वाले, किसी मठ या विहार के शरणागत निश्चेष्ट निस्पन्द की प्रशंसा नहीं कर सकता, जो कभी बाहर निकलकर अपने शत्रु का सामना नहीं करता और उस अमर जयमाल के लिए होने वाली दौड़ में से, जिसमें धूल भी है गर्मी भी, जान बचाकर चुपके से भाग जाता है।'

मेरी बात का यह आशय कदापि नहीं है कि मैं डा० जिवागो को असद् कृति मानता हूँ, मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि कोई अगर उसको असद् कृति माने भी तो भी उसे सामने आने का अवसर तो उसे देना ही चाहिए। अधिकारियों को निश्चय ही भीषण अशुभ फल की आशंका रही होगी जो उन्होंने पुस्तक को प्रकाशित नहीं होने दिया उल्टे पुस्तक और उसके रचयिता दोनों को नाना अपशब्दों के पत्थर के नीचे दबा दिया। लेकिन मुझको ऐसा लगता है कि पुस्तक अगर प्रकाशित की गयी होती तो अशुभ की अपेक्षा शुभ फल ही अधिक हाथ लगता और इस तरह तो केवल अशुभ फल हाथ लगे, अपकीर्ति, असाधारण अपकीर्ति हाथ लगी। बात केवल डा० जिवागो की नहीं है, मिल्टन के शब्दों में ऊपर जिस सत्य की ओर संकेत किया गया है उसको उचित परिप्रेक्ष्य में न देख पाने के कारण साहित्य-सृजन को वहाँ सामान्यतः बड़ी सांघातिक क्षति पहुँची है। इस सत्य से आँख मूंदना आत्म-वंचना होगी।

किसी उपन्यास की चर्चा करते समय उसका कथा-सार देने की एक परिपाटी-सी चल पड़ी है। पाँच सौ

दस पन्ने की इस किताब का कथासार भी पचास पन्ने से क्या कम लेगा, इसलिए उस कार्य से विरत होकर मैं संक्षेप में उपन्यास का सारतत्व आपके सामने रखने का प्रयास करूँगा।

जिवागो एक कवि-हृदय डाक्टर है। छुटपन में ही उसके माता-पिता की मृत्यु हो जाती है। वह बड़े अमीर घराने का लड़का है लेकिन अपनी पैतृक सम्पत्ति से जल्दी ही उसका नाता टूट जाता है। लेकिन उसे इनमें से किसी बात का कुछ खास ग़म नहीं है। असल ग़म उसे इस बात का है कि जिस दुनिया में उसने आँख खोली थी और अपनी घुट्टी के साथ पी थी, वह दुनिया अब नहीं रही, अब यानी बोलशेविक क्रान्ति के बाद, उसके फलस्वरूप। वह कैसी दुनिया थी जिसकी हूक रहरहकर उसके दिल में उठा करती है, जिसके सपने उसने देखे थे मगर जो अब मर गयी, उसकी तसवीर यहाँ वहाँ से उठाये गये ज़िवागो के ही दो-चार शब्दों में सुनिए, इतने ही से उसके दर्द का मूल स्वर आपकी पकड़ में आ जाएगा। ये गंभीर और मर्म छूने वाले शब्द हैं :

'(क्रान्ति के बाद जो नयी व्यवस्था आयी उसमें अ. रा.) कुछ ऐसा हुआ कि आदमी के चेहरे का भाव जैसे शून्यवत् हो गया—आदमी में कोई रंग नहीं रह गया। कि जैसे एक जीते-जागते इन्सान का चेहरा किसी सिद्धान्त का प्रतीक मात्र रह गया हो, किसी विचार का बिम्ब। मेरा ध्यान जब इस चीज़ की तरफ गया तो मुझे बड़ी सख्त उलझन हुई। मेरी समझ में आया कि उसकी यह स्थिति इसीलिए हुई कि उसने अपने आपको ऐसी चीज़ के प्रति समर्पित कर दिया है जो ऊँची तो है मगर साथ ही मुर्दार कर देने वाली भी है, निर्मम भी है, और अन्त तक आते आते आदमी को भी छोड़ेगी नहीं।''....(पृष्ठ ३६१)

...'तभी हमारी रूसी भूमि पर झूठ के पैर पड़े। असल बड़ा दुर्भाग्य, आगे आने वाली सभी बुराइयों की जड़ यह थी कि व्यक्ति की राय के मूल्य में आस्था जाती रही। लोग सोचने लगे कि अपनी नैतिक बुद्धि का अनुसरण करना पुरानी और दकियानूस बात है, उनको भी लाज़िम है कि वह भी सबके स्वर में स्वर मिलाकर गायें, और जैसे उनको कहा जाता है वैसे जियें, और यह चीज़ बराबर सबके गले में ठूँसी जा रही थी। और इसी जगह चमचमाते हुए शब्दों की शक्ति का उदय हुआ—पहले ज़ारशाही के, बाद में क्रान्तिकारियों के।....इस सामाजिक बुराई ने महामारी का रूप ले लिया। यह छुतही बीमारी थी। और इसने हर चीज़ पर अपना असर डाला, कोई चीज़ इससे अछूती नहीं बची। यहाँ तक कि अपने घर के भीतर भी हम इसके असर से नहीं बच सके। उसमें कहीं कुछ गड़बड़ हो गया। आपस में हमारा व्यवहार पहले जैसा स्वाभाविक और अनायास होता था अब उसकी जगह बाह्य आडंबर आ गया और यह हमारा गदहपन था जो हम ऐसा करते थे। हमारी बातचीत में कुछ दिखा-वटीपन, बनावट, ऊपर से जबरन् थोपी हुई कोई चीज़ घुस आयी—तुमको लगता था कि विश्वव्यापी महत्व की कुछ चीज़ों के बारे में तुम्हारे सोचने में एक विशेष तरह की चतुराई या निपुणता होनी ही चाहिए।'

(पृष्ठ ३६३)

'जहाँ तक मज़दूरों की देखभाल, माँ की सुरक्षा, पैसे की ताकत के खिलाफ लड़ाई की बात है, हमारा क्रान्तिकारी युग नयी, टिकने वाली, चिरस्थायी उप-लब्धियों का एक अद्भुत युग है। मगर जहाँ तक उसकी जीवन-व्याख्या की बात है और जीवन-सुख के उसके दर्शन की बात है, जिसका उपदेश वह करता है,—किसी तरह से यह मानने को जी नहीं करता कि वह चीज़ संजीदगी से गौर करने के लिए हमारे सामने रखी जा रही है। अतीत का वह ऐसा हास्यास्पद अवशेष है संजीदगी से कोई उस पर गौर करे भी तो कैसे। नेताओं और जनता को लेकर यह सब जो वाग्जाल बुना जाता है, उसमें अगर इतिहास को पीछे लौटा ले जाने की ताकत होती तो हम हज़ारों साल पीछे, इंजील की रचना के उस युग में पहुँच गये होते जिसमें गड़रियों के कबीले होते थे और उन कबीलों के सरदार होते थे।

मगर सौभाग्य से ऐसा करने की ताकत उसके भीतर नहीं है।' (पृष्ठ ३७१)

'इस बात को तुम चाहे जैसे कहो, मौत सचमुच दरवाज़ा खटखटा रही है। हमारे दिन गिने हुए हैं। इसलिए अच्छा होगा कि हम और कुछ करें न करें अपने ढंग से इस मौके का फायदा उठायें। वह दिन जो हमारे पास बचे हैं उन्हें जिन्दगी को अलविदा कहने में खर्च करें, आओ, बिछुड़ने के पहले एक बार फिर, अंतिम बार, साथ-साथ एकान्त का उपभोग करें। हम उन सब चीजों को अलविदा कहेंगे जो हमको प्यारी थीं, जिस तरह हम चीज़ों को देखते थे, जिस तरह जीने के सपने हम देखते थे और जो कुछ हमारे जमीर, हमारी अन्तरात्मा ने हमको सिखलाया था, और अपनी आशाओं को और एक दूसरे को—हम सबको अलविदा कहेंगे। हम दोनों एक बार फिर एक दूसरे से वह गोपन शब्द कहेंगे जो रात को कहे जाते हैं, पूर्वी महासागर के नाम की तरह महान् और शान्तिमय...' (पृष्ठ ३८३)

'ओ मेरे अविस्मरणीय आनन्द की स्रोतस्विनी, मैं तुम्हारे साथ ठहरूंगा कुछ देर, जब तक मेरी बाँहों और मेरे हाथों और मेरे होठों पर तुम्हारी स्मृति शेष है। मैं तुम्हारे लिए रोऊँगा, इस तरह कि मेरा रोना टिके और तुम्हारे योग्य हो। मैं तुम्हारी स्मृति को असीम पीड़ा और वेदना का आकार दूंगा। यह काम पूरा होने तक मैं यहाँ रहूँगा और फिर मैं भी चला जाऊँगा। ऐसी ही रेखाओं से मैं तुम्हें आंकूंगा। मैं तुम्हें कागज पर आंकूंगा, वैसे ही जैसे सागर भयानक तूफान से अपनी निगूढ़तम गहराइयों में मथ उठने पर अपनी प्रबलतम और सबसे दूरगामी लहरों की रेखाएं तट पर छोड़ जाता है। सिवार, घोंघे, झांवे, हल्के से हल्का मलबा, हल्के से हल्की वह चीजें जो वह अपने तल से उठाकर ला सकता था, यहाँ से वहाँ तक बालू पर बिखर जाती हैं। यह टेढ़ी-मेढ़ी रेखा दूर जाते जाते अनन्त में जहाँ खो जाती है वही लहरों की ऊंचाई हैं। इसी तरह मेरे जीवन में तुम्हारा आविर्भाव हुआ था, मेरीप्राण, मेरा गौरव, और इसी तरह मैं तुम्हारे बारे में लिखूंगा।' (पृष्ठ ४०४-५)

लारा के अन्तिम बार चले जाने पर मन की सम्पूर्ण श्रद्धा से उसको दी गयी इसी प्रतिश्रुति का प्रतिफल यह उपन्यास जान पड़ता है और 'डा० ज़िवागो' आत्मचरितात्मक उपन्यास हो या न हो, यह बात निर्विवाद-सी है कि ज़िवागो के भीतर मुख्य अंश, बीज-अंश पास्तरनाक का है। ज़िवागो के माध्यम से उसी की मुहब्बत और उसी का दर्द व्यक्त हुआ है, दर्द मुहब्बत का भी और दर्द उस दुनियां के मिट जाने का जो उसकी जानी-पहचानी दुनिया थी।

यह तो संयोग की बात है कि ज़िवागो धनी वर्ग की सन्तान है लेकिन अगर वह धनी वर्ग की सन्तान न भी होता तब भी यह संभव था कि उसके माध्यम से उस सुविधाभोगी वर्ग की पीड़ा बोल रही हो जो अपदस्थ कर दिया गया, जिसका प्रभुत्व छिन गया, जो अपनी उस दुनिया के मिट जाने पर विलाप कर रहा है जो उसने अपनी सुख-सुविधा के लिए अपनी इच्छा के अनुरूप, अपने अवकाश को भरने और उसे सार्थक करने के लिए बनायी थी। हो सकता है कि ऐसा भी हो, और जिस तरह लेखक ने उस क्रान्ति की अनेक सामाजिक उपलब्धियों को या तो बिल्कुल अनदेखा कर दिया है या बहुत छोटा करके देखा है उससे लगता है कि शायद ऐसा है भी। ऐसी बात न होती तो यह जरा मुशकिल था कि लेखक को सोवियत समाज के केवल बुरे और नकारात्मक पहलू दिखायी देते। सत्य को खोजने या देखने के लिए जिस निर्मम, वस्तुनिष्ठ दृष्टि की आवश्यकता होती है, उसका यहाँ सर्वथा अभाव है। पास्तरनाक मूलतः कवि है और इस उपन्यास में भी उसकी दृष्टि कवि की दृष्टि है जिसके लिए अकेला सत्य उसकी अपनी एकान्तिक भावना का सत्य होता है और उसी की कसौटी पर वह इतिहास के सत्य को भी जबरन कसता है, उसे परवाह नहीं अगर ऐसा करने में इतिहास के प्रति अन्याय होता है। "डा० ज़िवागो' अगर कुछ दूसरे तरह का उपन्यास होता जिसका इतिहास से कोई सीधा लगाव न होता तो यह सवाल न

उठता लेकिन जिस रूप में कहानी यहां कही गयी है, इतिहास उसका अविच्छिन्न अंग है क्योंकि एक विशिष्ट काल-खण्ड का इतिहास ही उसकी पृष्ठभूमि है। उस इतिहास के साथ न्याय नहीं हो सका है। उपन्यासकार ने प्रधान रूप से क्रान्ति के बाद के गृहयुद्ध-काल को ही लिया है। काफी पन्नों में गृहयुद्ध का चित्रण भी किया है। वह यत्र-तत्र अपने सुन्दर दृश्यचित्रण के बावजूद बिल्कुल अवास्तविक लगता है क्योंकि इतिहासकार की वैज्ञानिक दृष्टि गायब है। उस लड़ाई की बात करते समय (या किसी भी लड़ाई की बात करते समय) सिर्फ इतना कहने से काम नहीं चलेगा कि दो खूंखार सांड़ या अरना भैंसे सींग से सींग भिड़ाये लड़ रहे थे। वह पूरी बात नहीं है और चाहे हमारी पाठ्य-पुस्तकों में इसी तरह का इतिहास पढ़ाया जाता हो, किसी काल को समझने में उससे कोई सहायता नहीं मिलती। उस लड़ाई या उस घटना के मूल में काम करनेवाली सामाजिक शक्तियों को भी समझना जरूरी होता है। इतिहास के रहस्य को उद्घाटित करनेवाली, उसके पर्दे को खोलनेवाली चीज वही है। और उसी चीज से लेखक कावा काट गया है। क्यों, यह कहना कठिन है लेकिन बहुत कठिन नहीं, विशेषत: इसलिए कि आधुनिक मनोविज्ञान ने अवचेतन मन का अस्तित्व भी प्रमाणित कर दिया है। इस चीज़ की एक नहीं दर्जनों झलकियां उपन्यास में मिलती हैं कि लड़नेवाले दोनों पक्षों में से सामन्तों और जागीरदारों के पक्ष की ओर लेखक की सहानुभूति है। लेकिन इस बात को खुलकर वह नहीं कहना चाहता। शायद इसलिए कि स्वयं उसके मन में इस प्रश्न पर दुबिधा है। शायद इसलिए कि वह सोचता है कि लोकरुचि के अत्यन्त प्रतिकूल इस बात के धांधे में उसकी वह खास बात भी खो जायगी जो वह कहना चाहता है, व्यक्ति की स्वाधीनता की बात।

संभव है इसी प्रकार की कुछ मानसिक प्रक्रिया लेखक के अवचेतन में हुई हो जिसके फलस्वरूप वह जाने-अनजाने उस संघर्ष के सामाजिक पक्ष पर पर्दा डाल देता है। इतिहास के साथ यह स्वैराचार करके लेखक एक ओर जहां इतिहास के प्रति अन्याय करता है वहां दूसरी ओर खुद भी यह समझने (और दूसरे को समझाने) में असमर्थ हो जाता है कि आखिरकार उस समाज में वह जीवन-धर्मी तत्त्व कौन से हैं जिनके कारण उसे विजय मिली और वह आज भी जीवित है। इतना ही नहीं, इस चीज का एक और दुष्परिणाम हुआ है और वह उपन्यास के गठन या अंगविन्यास से सम्बन्ध रखता है। एक देश के एक विशिष्ट युग के इतिहास पर यह उपन्यास खड़ा है, लेकिन इतिहास के प्रति लेखक की दृष्टि अनैतिहासिक है। कमजोर नींव पर मजबूत इमारत कैसे खड़ी हो सकती है। परिणाम स्पष्ट है, शिल्प की दृष्टि से उपन्यास की चूलें हिल गयी हैं, गठन चरमरा गया है, कथासूत्र बिखर गया है, और मुझे यह बात आकस्मिक नहीं सकारण मालूम होती है कि इन अनेक बिखरे हुए सूत्रों को किसी प्रकार जोड़ने के लिए उपन्यासकार को विवश होकर संयोगों का सहारा इतना अधिक लेना पड़ा है जो कि लेखक के सामर्थ्य का नहीं अक्षमता का परिचय है। संयोग से ही लड़ाई के मैदान पर ज़िवागो की भेंट एक बार फिर लारा से हो जाती है। संयोग से ही एक बार फिर युरयातिन में ज़िवागो की भेंट लारा से हो जाती है, एक पुस्तकालय में जहां लारा भी जाती है और संयोग से ज़िवागो भी वारीकीनों से लौटते हुए पहुँच जाता है। और इस तरह उन दोनों का प्रणय आरम्भ होता है। संयोग से ही लारा का पति पाशा अन्तिपोव (जिसका नाम इस समय स्त्रैलनिकोव है। इसी नाम से वह बोलशेविको की ओर से लड़ रहा है। स्त्रैलनिकोव की जान भी संयोग से ही बच जाती है। सब उसे मरा हुआ समझ चुके हैं। इसीलिए वह अपना नाम बदलकर जिन्दगी का एक नया दौर शुरू करता है) भी उस घर में पहुँच जाता है जहां लारा और ज़िवागो रहते थे और जहां से अभी थोड़ी देर पहले लारा कोमारोव्स्की के साथ साइबेरिया चली गयी है। फिर लारा के ये दोनों प्रेमी लारा के बारे में बड़ी रात तक बात

करते रहते हैं और फिर सोने चले जाते हैं—और उसी रात पाशा या स्त्रेलनिकोव चुपके से बाहर निकल जाता है और अपने आपको गोली मार लेता है। कोमारोव्स्की का, जिसके ऊपर लारा एक बार गोली चला चुकी है मगर संयोग से गोली अपने निशान पर बैठती नहीं, लारा का पीछा करते हुए इतनी बीहड़ जगह में पहुँच जाना, जहाँ लारा और ज़िवागो सारी दुनिया से अलग होकर रह रहे हैं, संयोग से ही होता है। संयोग से ही ज़िवागो की मुलाक़ात अपने जीवन की तीसरी स्त्री मारीना से हो जाती है। और यह भी संयोग ही है कि ज़िवागो के शव पर विलाप करने के लिए लारा भी न जाने कहाँ से पहुँच जाती है। और यह भी संयोग ही है कि कमरा भी वही है जिसमें उसने पाशा के साथ मिलकर क्रिसमस के दिन कोमारोव्स्की को गोली मार देने की योजना बनायी थी। तब तक ज़िवागो उसके जीवन में नहीं आया था। और यह कैसा संयोग है कि अपने सगे, आत्मीय कोई नहीं रहे, यूरी (ज़िवागो) ट्राम से उतरते हुए सड़क पर गिरकर मर गया, पाशा ने अपने आपको गोली मार ली लेकिन वह मरदूद कोमारोव्स्की ज़िन्दा का ज़िन्दा रहा आया! यही नहीं, इसी तरह के और भी न जाने कितने संयोग उपन्यास में भरे पड़े हैं। लेकिन इसके बाद भी उपन्यास में अनेक विशेषताएं हैं जो इसको एक महत्वपूर्ण कृति बनाती हैं। ज़िवागो, पाशा, लारा (और इन्हीं तीन के इर्द-गिर्द मुख्य कहानी घूमती है) सजीव चरित्र हैं और इनमें भी लारा तो बहुत ही सफल हुआ है। ज़िवागो की पत्नी तोनया के साथ लेखक न्याय नहीं कर सका है। प्रकृति का चित्रण सर्वत्र बहुत सुन्दर हुआ है। भाषा अत्यन्त परिमार्जित और मर्म को छूने वाली है। उपन्यास के अन्त में दी गयी ज़िवागो की कविताएं बहुत ही गहराई से निकलकर आयी हैं और उतनी ही गहरी चोट करती हैं।

बात केवल शिल्प की नहीं है, कवि का दर्द सच्चा और वही दर्द संपूर्ण उपन्यास को उठा देता है। व्यक्ति के नाते व्यक्ति की अवहेलना, उसके अत्यधिक समाजीकरण, व्यक्ति के अपने निजी विचारों और भावों, छोटे-मोटे सुख-दुःख प्यार-दुलार के प्रति नयी समाज-व्यवस्था की तिरस्कार-दृष्टि या रक्तचक्षु—इसी के प्रति कवि ने गहरे प्रतिवाद का स्वर मुखर किया है। हो सकता है कि उसके श्रेणी-गत संस्कार भी इस चीज़ के पीछे काम कर रहे हों लेकिन ऐसा समझने का कारण है कि यह प्रश्न इतनी आसानी से टाल देने का नहीं है। संभव है कि इस प्रश्न पर यह उपन्यास संपूर्ण सोवियत व्यवस्था के किसी दुष्टरोग की ओर मार्मिक संकेत करता हो और बहुसंख्यक जनसमाज की ओर से उसका उपचार माँगता हो। अपने व्यक्तित्व की रक्षा छोटे से छोटा, गरीब से गरीब आदमी भी चाहता है। व्यक्ति के समाजीकरण की दिशा में अतिरेक भी हो सकता है। इस तरह की कृतियाँ संतुलन स्थापित करने में योग देती हैं। दुःख की बात है कि अपने देश में ही इसे प्रकाशित होने का अवसर नहीं मिला।

अपने समस्त गुण-दोष के साथ कलाकृति के नाते भी यह पुस्तक महत्वपूर्ण है, लेकिन उससे भी बड़ा महत्व इस पुस्तक का एक दूसरे अर्थ में है—एक कलाकार की चारित्रिक निष्ठा के ज्योतिस्तंभ के रूप में। जो बात वह गहराई से महसूस करता था उसको कहने का साहस उसने अपने भीतर पाया, यह छोटी बात नहीं है। यह भी लक्ष्य करने की बात है कि उसने अपने देश से बाहर जाकर यह बात नहीं कही—और न उसको कहने के बाद, इतना सब तूफ़ान बवण्डर उठने के बाद उसने अपना देश छोड़ा, अपने घर में रहकर, यदि आवश्यक हो कष्ठ उठाना स्वीकार किया लेकिन देश से बाहर जाना नहीं जहाँ लोग उसको हाथोंहाथ लेते क्योंकि वह चीज़ उसके नैतिक साहस की परिभाषा में शायद नहीं आती थी।

सखाराम गणेश देउस्कर

श्री महादेव साहा

१६ जून १९०४ में 'देशेर कथा' का पहिला भाग और २३ अक्तूबर १९०७ में इसका 'परिशिष्ट भाग' निकला। इलाहाबाद के माधवजी ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया। हरिश्चन्द्र ने 'सब धन बिदेश चलि जात इहै बड़ी ख्वारी' में ब्रिटिश साम्राज्यवादी शोषण का रूप सूत्राकार में साफ कर दिया था। 'डिगवी' नौरोजी और रमेशदत्त ने विदेशी शोषण के बारे में लिखा। इनकी अपनी सीमाएँ थीं। सखाराम ने प्रधानतः इन्हीं के आधार पर अपनी ऐतिहासिक पुस्तक लिखी। बंगाल के पुराने क्रान्तिकारी आन्दोलन को सैद्धान्तिक नेतृत्व की आवश्यकता थी। इस पुस्तक ने उसे प्रदान किया। कुछ ही दिनों के बाद यह जब्त कर ली गई मगर किसी न किसी प्रकार से इसका प्रचार बहुत दिनों तक होता रहा।

आज की साहित्य-व्यवसायिकता और पत्रकारिता के युग में एकनिष्ठ साहित्यसाधक, निडर पत्रकार और सच्चे देशभक्त सखाराम को याद करने की बड़ी आवश्यकता है। सखाराम ने जिस प्रान्त में काम किया, वहाँ के लोग अब भी श्रद्धा के साथ उनका नाम स्मरण करते हैं मगर उनकी पुस्तकें अब दुर्लभ हो गई हैं। उनके बहुतेरे जानकार अब भी जीवित हैं। लेकिन उन पर ब्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय और भूपेन्द्रनाथ दत्त के अलावा किसी ने खास कुछ नहीं लिखा है।

सखाराम गणेश देउस्कर एक विद्यानुरागी महाराष्ट्रीय घराने में पैदा हुए थे। इनके पूर्वज बम्बई प्रांत के रत्नगिरि जिले में शिवाजी के आलबान नामक किले के निकट वाले देउस गाँव के निवासी थे। सखाराम के दादा सदाशिव को साले से दहेज में वैद्यनाथ (संथाल परगना, बिहार) के निकट कारो गाँव मिला था। कारो में उनके एक पुत्र और एक कन्या पैदा हुई। पुत्र गणेश सदाशिव ने बनारस में वेद अध्ययन किया। गिधौड़ के राजा जयमंगलसिंह वैद्यनाथ और देवघर में रहते थे। उन्होंने सदाशिव को अपने यहाँ रखा। पौष शुक्ला-चतुर्दशी सम्वत् १९२६ (१७ दिसम्बर १८६९) में उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। यही आगे चलकर सखाराम गणेश देउस्कर के नाम से मशहूर हुए।

सखाराम गणेश देउस्कर नाम में ही उनके पिता का नाम और वंश-परिचय निहित है। सखाराम को जिन्दगी में देशभक्त के अलावा कोई सुख नहीं मिला। उनका सारा जीवन प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करते बीता। इसका आरम्भ उनके बचपन में ही हुआ था। पाँच साल की अवस्था में उनकी माता चल बसीं। सखाराम पिता के आँखों की पुतली थे।

पत्नी की मृत्यु के बाद पिता ने पुत्र के लालन-पालन का भार अपनी बहन को सौंपा। सखाराम की बुआ बहुत बुद्धिमती और विद्यानुरागिनी थीं। घर गृहस्थी के कामों में भी वे निपुण थीं। महाराष्ट्रीय साहित्य से वे भलीभाँति परिचित थीं। उन्हीं के जतन, उपदेश और परिश्रम से सखाराम के चरित्र का निर्माण हुआ। इस महिला का अथक प्रयत्न बेकार नहीं गया इसकी गवाही सखाराम का जीवन है। उन्होंने सखाराम में मराठी साहित्य के प्रति जो प्रेम उत्पन्न किया था, उसी की प्रेरणा से उन्होंने परवर्ती जीवन में उस साहित्य के रत्नों से बंग-साहित्य भांडार को समृद्ध किया।

सखाराम ने बचपन में बंगालियों की भाँति ही बंगला सीखी। बाद में पिता ने उन्हें वेद भी पढ़ाया। कुछ दिनों के बाद सखाराम देवघर हाईस्कूल में भर्त्ती हुए। यशस्वी साहित्यिक योगीन्द्रनाथ वसु उन दिनों स्कूल के हेडमास्टर थे। उनके प्रभाव से सखाराम बंगला साहित्य की ओर प्रेरित हुए। बंगला के अध्ययन

के साथ ही वे मराठी भाषा और साहित्य का अध्ययन करने लगे। वसु महाशय की प्रेरणा से विद्यार्थी जीवन में ही सखाराम ने बंगला में लिखना भी शुरू कर दिया। इतिहास उनका प्रिय विषय था। उनकी रचनाएँ प्रतिष्ठित बंगला पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। उन दिनों ईश्वरचन्द्र वन्द्योपाध्याय (संक्षेप में विद्यासागर) के दौहित्य सुरेश समाजपति द्वारा सम्पादित 'साहित्य' में लेख छपना मामूली बात नहीं थी। समाजपति की कसौटी पर सखाराम के लेख खरे उतरे, इससे रचनाओं के उत्कर्ष का पता चल जाता है। योगीन्द्रनाथ की प्रेरणा से ही उनके विद्यार्थी में देशभक्ति भी उत्पन्न हुई।

इन्हीं दिनों मनीषी राजनारायण वसु देवघर में रहते थे। सखाराम उनके यहाँ जाते और नाना विषयों पर वार्तालाप करते थे।

परिवार में तंगी के कारण सखाराम को कम उम्र में ही गुजर बसर की चिन्ता करनी पड़ी। १८९३ में देवघर हाईस्कूल में सेकेन्ड पण्डित की जगह खाली हुई। १५ रुपये मासिक पर सखाराम इस पद पर नियुक्त हुए। लिखना उन्होंने नहीं छोड़ा था, उनकी रचनाएँ नियमित रूप से 'हितवादी' में प्रकाशित होती थीं। मिस्टर हार्ड देवघर के मैजिस्ट्रेट थे। 'हितवादी' में इनके अन्यायों का पर्दाफास होता रहता था। योगीन्द्रनाथ और सखाराम बँगला के लेखक की हैसियत से 'बदनाम' थे। हार्ड के कारण दोनों को नौकरी छोड़नी पड़ी। हार्ड स्कूल-कमेटी के सभापति थे। उसकी वजह से सखाराम को नौकरी से हाथ ही नहीं धोना पड़ा बल्कि देवघर में रहना ही मुश्किल हो गया। १८९७ में उन्होंने देवघर छोड़ दिया। देवघर छोड़ना उनके लिए वर सिद्ध हुआ। कलकत्ते के विशाल कार्यक्षेत्र में उनकी प्रतिभा के विकास के लिए अनुकूल क्षेत्र मिला।

काली प्रसन्न काव्य विशारद 'हितवादी' के सम्पादक थे। उन्होंने विपन्न सखाराम की भरपूर सहायता की। 'हितवादी' में लिखने के जुर्म के संदेह में उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी थी। काव्य-विशारद ने उन्हें 'हितवादी' में रख लिया। ३० रुपये मासिक पर वे प्रूफरीडरी करने लगे। योग्यता के कारण बहुत जल्द ही उनकी तलब बढ़ी और वे काव्य विशारद के दाहिने हाथ बन गये। १९०७ में पीड़ित काव्यविशारद स्वास्थ्य सुधारने के लिए जापान रवाना हुये। सखाराम के योग्य हाथों में वे 'हितवादी' के संचालन का भार सौंप गये। जापान से लौटते समय जहाज में उनकी मौत हो गयी। (४ जुलाई १९०७)। 'हितवादी' के अधिकारियों ने सखाराम को स्थायी सम्पादक नियुक्त किया। उनका वेतन ९०) रुपये कर दिया गया।

इसके चन्द महीनों के बाद ही कांग्रेस का सूरत अधिवेशन हुआ। नरम और गरम दलवालों के संघर्ष से यह अधिवेशन दक्षयज्ञ बन गया। 'हितवादी' के अधिकारियों ने सखाराम को बालगंगाधर तिलक के खिलाफ लिखने के लिए तार भेजा। सखाराम ने तिलक से राजनीति की दीक्षा ली थी, तिलक उनके गुरु थे। उन्होंने अपनी पारिवारिक हालत की परवाह न करके नौकरी को लात मार दिया।

सखाराम इतिहास के गम्भीर विद्वान थे। 'हितवादी' से हटने के बाद वे हाल ही स्थापित नेशनल स्कूल में इतिहास के अध्यापक के पद पर नियुक्त हुये। सरकार ने उनकी 'देशेर कथा' और 'तिलकेर मोकद्दमा' जब्त कर दी। 'जातीय परिषद' के आतंकित अधिकारियों का मनोभाव समझ कर सखाराम ने नेशनल स्कूल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

सखाराम बंगाली जाति और बंगला साहित्य को अपना समझते थे। इस जाति के सुख-दुःख, आनन्द वेदना, आशा-आकांक्षा से उनका अभिन्न सम्बन्ध था। इस जाति के सभी प्रगतिशील आन्दोलनों में उन्होंने सक्रिय हिस्सा लिया। वर्दवान के महाराजा पंजाब से आए हुए खत्री हैं। सदियों से बंगाल में हैं, पिछले महाराजा बंगला साहित्य के लेखक और कवि भी हो गए हैं। एक बार बंगालियों का ताच्छिल्य करते हुए उन्होंने लिखा कि—"मैं बंगाली नहीं हूं।" इसका

मुँह तोड़ जवाब देते हुये सखाराम ने लिखा—"मैं अपने को बंगाली कहना गर्व की बात समझता हूँ।"

शिवनाथ शास्त्री के 'युगान्तर' नामक उपन्यास के अनुसार भूपेन्द्रनाथ दत्त ने 'युगान्तर' नामक क्रान्तिकारी दल का नामकरण किया। भूपेन्द्रनाथ की सम्पादकता में प्रकाशित साप्ताहिक दल के मुख पत्र का नाम भी 'युगान्तर' रखा गया। सखाराम 'युगान्तर' में लिखते थे। दल के सदस्य अरविन्द घोष, बारीन्द्रकुमार घोष, अविनाथ भट्टाचार्य, उपेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय, उल्लासकर दत्त आदि से उनकी घनिष्ठता थी।

सखाराम के प्रयत्न से बंगाल में पहले पहल १६०२ में शिवाजी-उत्सव शुरू हुआ था।

गरीबी सखाराम की चिरसंगिनी रही। नाना घात प्रतिघातों से उनका जीवन जर्जर हो उठा था। तिस पर कठोर व्याधि से उनकी तन्दुरुस्ती भी चौपट हो गई। इधर उनके पुत्र और पत्नी का देहान्त भी हो गया। दोनों बेटियों का ब्याह उन्होंने पहिले ही कर दिया था। उनके एक दामाद हिन्दी के यशस्वी सम्पादक साहब बनारस निवासी श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे हैं। दूसरी बेटी ताम्बे नामक एक युवक से ब्याही गई थी। दोनों बेटियाँ आज जीवित हैं। श्रीमती ताम्बे गरीबी में वैधव्य काट रही हैं।

सखाराम २३ नवम्बर १६१२ (८ अगहन १६१६ बंगाब्द) को चल बसे।

सुरेश समाजपति सखाराम के अन्यतम गुणग्राही थे। सखाराम की मृत्यु के उपरान्त सुरेश समाजपति ने जो श्रद्धाञ्जलि अर्पित की थी उसमें इस निर्धन संघर्षशील साहित्यसेवी, महान् देशभक्त की चारित्रिक विशेषताएं मूर्त्त हो उठती हैं। समाजपति के कुछ शब्दों को नीचे उद्धृत किया जाता है—

"साहित्यसेवीर चिरन्तन अभिशाप दारिद्र देउस्करेर चिरजीवनेर संगी छिल। मृत्युशय्याय दरिद्रेर यातनाओ रोगेर यंत्रणा भोग करिया गत ८ इ अग्रहायण शनिवार प्रभाते निनि धरार बन्धन छिन्न करिया पृथिवीर सुख-दुखेर अतीत हइयाछेन।...('वसुमती' माघ १३१६ बंगाब्द से 'साहित्य' में उद्धृत)

गुजर बसर के लिए कठोर संघर्ष करने के बाद जो थोड़ा सा समय मिलता था सखाराम उसे अध्ययन और साहित्य सेवा में लगाते थे। वे सरल और शुद्ध बँगला लिखते थे। अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने बंगाल और महाराष्ट्र में आत्मिक सम्बन्ध स्थापित किया था। उनके कामों और रचनाओं से उतना परिचय न होने पर भी इन दोनों प्रदेशों के लोग उन्हें भूले नहीं हैं। बंगाली शिक्षित समाज उन्हें समधिक श्रद्धा के साथ स्मरण करता है।

उनकी रचनाओं में हिन्दुस्तान के उद्योग धन्धों की बर्बादी का जो चित्र मिलता है वह अपने समय के लिए अद्वितीय है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन और शोषण के प्रति लोगों को सजग करने में उनकी पुस्तकें बहुत सहायक हुई थीं। पहिले ही कहा है कि 'देशेर कथा' बहुत प्रसिद्ध है। इसकी जब्ती के बाद उन्होंने सरकार के खिलाफ हाइकोर्ट में मुकदमा दायर किया था। दुःख की बात है कि पेशी के पहिले ही उनकी मौत हो गई।

नीचे हम सखाराम की लिखी और प्रकाशित रचनाओं की कालानुक्रमिक सूची दे रहे हैं। ब्रैकेट में दी हुई अंगरेजी तारीख बंगाल लाइब्रेरी द्वारा संकलित मुद्रित पुस्तकों की तालिका से ली गई है।

१—एटा कोन् युग ?—१८ भाद्र १२९९ (२-६-१८९२)। पृष्ठ २४+१ शुद्धिपत्र।

"युगकाल सम्बन्धे शास्त्रीय विचार"। "एटा कोन् युग ?" (प्रथम प्रस्ताव) पुस्तकाकारे प्रकाशित हइल। एइ प्रबन्धेर एइ प्रथम प्रस्तावटि गत वत्सरेर कार्त्तिक मासेर "साहित्य ओ विज्ञाने" प्रकाशित हइयाछिल। तत्परे पूर्व्व प्रकाशित प्रस्तावटि संशोधित एवं स्थाने स्थाने परिवर्त्तित ओ परिवर्द्धित हइया तत्त्वबोधिनी पत्रिकाय प्रकाशित हय। सम्प्रति ताहा पुनः संशोधित ओ परिवर्द्धित करिया पुस्तकाकारे प्रकाश करा गेल। ...वैद्यनाथ देओघर १२९९ साल श्रावण।"

२—महापति रानाडे ? (२३ जनवरी १९०१)।

पृष्ठ ३६। 'एइ प्रस्तावेर अधिकांश पूर्व्वे प्रदीप पत्रे प्रकाशित हइया छिल।"

३—झाँसीर राजकुमार। १३०८ साल (२७ दिसम्बर १९०१)। पृ० ६०।

"एइ काहिनीर संग्रहे आमार श्रद्धेय ऐतिहासिक सुहृत् सातारा-राजेर पारसीनवीश श्रीयुक्त दत्तात्रेय बलवन्त पारसनीस महोदयेर रचित महाराणी लक्ष्मीबाईयेर जीवनचरित "नामक उत्कृष्ट मराठी ग्रंथ हइते आमि अशेष साहाय्य पाइयाछि।"

४—बाजीराओ। १३०८ साल (२४ जनवरी १९०२)। पृ० १९२।

"राओ बाहादुर काशीनाथ नारायण साने बी० ए० (डेक्कयन कालेज), श्रीयुक्त विश्वनाथ काशीनाथ राजओयाड़े ओ सुहृद्वर श्रीयुक्त दत्तात्रेय बलवन्त पारसनीस महोदयेर निकट आमार एकान्त कृतज्ञता प्रकाश प्रयोजन। इँहादेर अक्लान्त चेष्टाय महाराष्ट्र देशेर इतिहास संक्रान्ति दुर्लभ प्राचीन कागजपत्र संगृहीत ना हइले एइ पुस्तक रचना करा आमार पक्षे दुःसाध्य हइत।"

५—आनन्दीबाई? (२८ मार्च १९०३)। पृ० ९१+=)।

"श्रीमती काशी बाई महाराष्ट्रीय भाषाय आनन्दी बाईर ये अति प्रकाण्ड—रयाल आट पेजी ४२५ पृष्ठाय सम्पूर्ण जीवनचरित रचना करियाछेन, एक्षेत्रे ताहाइ आमार प्रधान भावलम्बन। उहार सारसंग्रह करिया भूतपूर्व्व 'सखी' पत्रिकाय [१३०७, माघ-चैत्र १३०८, ज्यैष्ठ-आषाढ़] आमि इतः पूर्व्वे कयेकटि प्रस्ताव लिखिया छिलाम। एक्षणे यथा संभव परिवर्द्धन ओ संशोधनानन्तर ताहाइ पुस्तकाकारे प्रकाशित करित्याम।"

६—शिवाजीर महत्व। आषाढ़ १३१० (जुलाई १९०३)। पृ० २०।

शिवाजी महोत्सव उपलक्ष्ये कलिकाता शिवाजी-उत्सव-समितिरि द्वारा बिना मूल्ये वितरित। इहा प्रथमे "कलिकाता १३०९ सालेर शिवाजी महोत्सव उपलक्षे रचित" हय।

७—देशेर कथा १म भाग। १३११ साल (१६ जून १९०४)। पृ० ३४२।

परिशिष्ट भाग। (२३ अक्तूबर १९०७) पृ० ३७।

८—कृषकेर सर्व्वनाश। १९०४ (२८ जुलाई) पृ० ९७–१४४।

"देशेर कथा हइते पुनर्मुद्रित।"

९—शिवाजीर दीक्षा। भाद्र १३११ (७-९-१९०४)। पृ० ४०।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर-लिखित "शिवाजी उत्सव" कविता सह। शिवाजी महोत्सव उपलक्षे कलिकाता शिवाजी-उत्सव-समितिर द्वारा बिना मूल्ये वितरित।

१०—शिवाजी। वैशाख १३१३। (१-६-१९०६)। पृ० २४।

शिवाजी-महोत्सव उपलक्षे····विनामूल्ये वितरित।

११—तिलकेर मोकदमा ओ संक्षिप्त जीवन-चरित। आश्विन १३१५ (४-१०-१९०८)। पृ० २१०+४०।

१२—वंगीय हिन्दूजाति कि ध्वंसोन्मुख? आश्विन १३१७ (१०-१०-१९१०)। पृ० १२४।

"ध्वंसोन्मुख" र प्रतिवाद। "कलिकाता जातीय विद्यालयेर इतिहासाध्यापक श्री सखाराम गणेश देउस्कर प्रणीत।"

अप्रकाशित रचनाएं

दैनिक और मासिक पत्रों में सखाराम के बहुतेरे निबंध बिखरे हुए हैं। इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करने की आवश्यकता है। सखाराम की जन्म शत-वार्षिकी में अभी दस वर्ष की देर है। हमें आशा करनी चाहिए कि तब तक इनके प्रकाशन की व्यवस्था होगी।

तीसरा सप्तक—प्रयोगवादी काव्य की नवीनतम उपलब्धियाँ

श्री अनन्त

कविता के दुर्भाग्य और 'नयी कविता' के सौभाग्य से 'तीसरा सप्तक' भी निकल आया। अन्य प्रयोगवादी काव्य-संकलनों की भाँति इस सप्तक की भी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यही है कि कवियों ने कविताओं के पहले 'वक्तव्य' में अपनी-अपनी कविताओं की समीक्षा प्रस्तुत की है। 'वक्तव्यों' का महत्व कई दृष्टियों से है। एक तो यह है कि काव्य की जितनी विचित्र और डरावनी परिभाषाएँ यहाँ एक साथ उपस्थित हैं उतनी अन्यत्र दुर्लभ हैं। दूसरे ये परिभाषाएँ गुरु गंभीर होती हुईं भी आपको अनायास हंसा सकती हैं अर्थात् इनमें हास्य रस के स्थायी भाव बदल चुके हैं। तीसरे कवियों ने शुद्ध खंडित गद्य में आत्म-विश्लेषण किया है और अनुभूति को अपनी कविता के पास तक नहीं फटकने दिया है। ये सब प्रयोगवादी काव्य की नवीनतम और पूर्णत: निजी उपलब्धियाँ हैं और इन पर किसी अन्य धारा के किसी कवि का कोई दावा स्वीकार नहीं किया जायेगा।

किन्तु यह समझना भूल होगी कि इसके कवि और उनके निजी वक्तव्य ही लाभप्रद हैं क्योंकि सबसे अधिक गुणकारी तो इसकी भूमिका है। भूमिकाएँ तो सभी लिखते हैं लेकिन 'तीसरा सप्तक' की भूमिका? वह तो समझिए उससे भी अधिक मजेदार है जितनी नगेन्द्र अथवा देवराज की समीक्षाएँ। पढ़िए और हँसिए, पढ़िए और कविता से नाराज हो जाइए, पढ़िए और अल्लाह का शुक्र मानिए जिसने अदब में ऐसी भूमिकाएँ और दुनिया में ऐसे भूमिका-लेखक दिए।

भूमिका में सबसे सुखद समाचार यह है कि तीसरा सप्तक के कविगण अपने पूर्ववर्त्तियों की तुलना में अधिक परिपक्व और मंजे हुए हैं। लेकिन इन मंजे हुए कवियों के भविष्य के विषय में हम-आप नहीं जान सकते, वह तो ज्योतिषियों का क्षेत्र है। ज्योतिष विद्या को स्मरण करने का कारण यह है कि प्रयोगवाद के इक्कीस आफिशियल कवियों में से दो—रामविलास शर्मा और गिरिजाकुमार माथुर उससे खुलेआम गद्दारी कर चुके हैं। रामविलास शर्मा को प्रयोगवादी कहने का साहस करना प्रयोगवाद की तमाम उपलब्धियों से इन्कार करना है और गिरिजाकुमार माथुर अब अच्छे प्रयोगवादी कवि नहीं माने जाते। कारण यह है कि माथुर की कविताओं में ताजे प्रतीक हैं, छन्द-सौंदर्य है, आस्था है और पाठक या श्रोता को रसमग्न करने की शक्ति है और इन सबकी प्रयोगवादी काव्य से जानी दुश्मनी है।

गंभीर आलोचकों को 'नयी कविता' नहीं ग्राह्य हो सकी तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसको ग्रहण करने वाले हैं ही नहीं। 'डा० ज़िवागो' में पास्तेंनाक को बड़े बड़े डरावने सपने आये तो इसका यह मतलव नहीं कि डरावने सपनों का कोई महत्त्व ही न माना जाय। एक क्षुद्र प्राणी की कुंठाग्रस्त आत्मकथा को सराहने वाले क्या कम रोये? वही दशा 'नयी कविता' की है। अगर कुछ लोग प्रयोगवादी काव्य को हल्की चीज मानते हैं तो उधर "पत्र-पत्रिकाओं में 'नयी कविता' ग्राह्य हो गयी है। सम्पादकगण (चाहे आतंकित होकर ही) उसे अधिकाधिक छापने लगे हैं और उसकी अपनी भी पत्र-पत्रिकाएँ और संकलन-पुस्तिकाएं निकलने लगी हैं।" लेकिन वाह रे दुर्भाग्य कि जिस कविता को पत्रिकाएं ग्राह्य कर चुकीं उसे "शास्त्रीय आलोचकों से सहानुभूतिपूर्ण क्या पूर्वग्रहरहित अध्ययन भी नहीं मिलता है?" इसका कारण यह है कि शास्त्रीय आलोचकों की विद्या 'नयी कविता' की उपलब्धियों को माप सकने में असमर्थ हो गयी है।

कुछ भी हो यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'प्रयोगवादी कविता' आज के युग का प्रतिनिधित्व करती है। संकट सिर्फ यह है कि सुमित्रानन्दन पन्त ऐसे मत का समर्थन नहीं करते। पन्तजी के अनुसार "अपनी अनेक सीमाओं के रहते हुए भी जो भविष्य में मिटाई जा सकती हैं—हिन्दी काव्य के राजपथ पर अभी तक तो छायावाद ही नवीन सौन्दर्य मंजरियों का मुकुट लगाये, नवीन प्रकाश दिशा की खोज में, मन्द धीर गति से चरण बढ़ा रहा है, ऐसा मेरा अनुमान है।" (चिदंबरा—१६५८)

पन्तजी के मंद धीर गति से चरण बढ़ाने वाले इसी मुकुटधारी छायावाद के कारण सम्भवतः 'नयी कविता' का वास्तविक मूल्याङ्कन नहीं हो पा रहा है। शास्त्रीय आलोचक-वर्ग तो पहले ही मूल्याङ्कन से भाग खड़ा हुआ था इसलिए 'नये कवियों' ने खुद ही अपने-अपने काव्यों का मूल्य आंकना शुरू कर दिया। प्रयोगवादियों में भी कुछ लोग अभी अपनी कविताओं की कुशल समीक्षाएं नहीं लिख पाते इस कारण भूमिका लेखक सलाह देते हैं कि "कृतिकार के रूप में नये कवि को साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा (और सम्पादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी!)।" सच पूछा जाय तो यह उन न्याय शास्त्रियों को खुले आम ललकार है जो अभी तक यह नहीं समझ पाये कि एक ही आदमी जज, वकील और अभियुक्त कैसे हो सकता है। न्यायशास्त्री चाहे जितनी दुविधा में हों किन्तु 'नये कवि' रस सिद्ध और रसवाहक होने के बदले अपने काव्य के जज और वकील दोनों बन चुके हैं। किसी शास्त्रीय आलोचक की क्या मजाल कि प्रयोगवादी कविताओं की निष्पक्ष समीक्षा करके भी, पूर्वाग्रही कहलाने से बच सके। जहाँ किसी आलोचक ने 'नयी कविता' के सिलसिले में 'रस' की चर्चा की, नये कवि दल-बल सहित अपने-अपने वक्तव्यों और परिभाषाओं का अस्त्र लेकर उसके सामने खड़े हो जायेंगे। तब आलोचक के सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं: या तो वह शास्त्र और कविता दोनों को लेकर वहाँ भाग खड़ा हो जहाँ रसमर्मज्ञ पाठक एवं श्रोता हों या नये कवियों के अर्थहीन वक्तव्यों पर मुग्ध होकर कहने लगे—'मनुष्य को बिम्बों के सहारे जीना चाहिये।' 'प्रयोगवाद एक नया सौन्दर्यशास्त्र लेकर आया है।'

जो आलोचक कविता में गहरी अनुभूति और कुशल अभिव्यक्ति में विश्वास रख कर 'नयी कविता' की समीक्षा करते हैं, भूमिका-लेखक ऐसे लोगों की खबर लेते हुए घोषित करते हैं, बल्कि कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि नकलची कवियों से अधिक संख्या और अनुपात नकली आलोचकों का है—धातु उतना खोटा नहीं है जितनी कि कसौटियाँ झूठी हैं।" कौन ऐसा नरवीर आलोचक है जो इस दावे के सामने टिक सके। है कोई? यदि है तो अपनी कसौटी सहित बाहर आये और 'तीसरा सप्तक' के भूमिका-लेखक की पूत-वाणी के सम्मुख क्षण भर भी ठहरे तो पता चलेगा कि 'नयी कविता' की निष्पक्ष विवेचना करने वाली तमाम कसौटियाँ घिस गयी हैं। ऐसे कथनों पर हमें पारिवारिक जीवन के श्रेष्ठ कथाकार शरत्चन्द्र का दिया हुआ एक उदाहरण याद आ जाता है:

"किसी आम बेचने वाले ने कहा, 'चख कर देख लीजिए। बिल्कुल मिसरी की तरह मीठा है।' जब खाकर देखा, तब वह इतना खट्टा निकला, जितना खट्टा आम जीवन में हमने कभी नहीं खाया था। लेकिन उस आदमी से हम किसी तरह न मंजूर करा सके कि वह आम खट्टा है। वह जोर से चिल्ला कर कहने लगा, 'वाह आपके खट्टा कह देने से ही हम मान लेंगे? हमारे पेड़ का आम है, हम नहीं जानते?' भला इसका और क्या उत्तर हो सकता है?"

खोटी धातु के बदले, खरी कसौटी को कोसने वाले सज्जन शरत्बाबू के उस आम-विक्रेता को भी मात कर देते हैं।

भूमिका में शास्त्रीय आलोचकों की खबर लेकर भूमिका-लेखक ओट हो जाते हैं और हमें कवियों से साक्षात्कार करने के लिये छोड़ देते हैं। कवियों से भेंट करने के पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि इस

'सप्तक' की उपलब्धियाँ गद्य के क्षेत्र में भी हैं और पद्य के क्षेत्र में भी। तटस्थ होकर विचार करने के लिये आवश्यक है कि किसी भी क्षेत्र को कम महत्त्व न दिया जाय।

सर्वप्रथम जिन कवि महोदय से हमारा मिलन होता है उसमें कुछ दैवी तत्त्व भी विद्यमान मालूम पड़ते हैं। वे "होड़ा होड़ी में एक बार जेठ की दोपहरी में गंगा की रेती पर नंगे पाँव दो मील चले, एक अन्य अवसर पर बत्तीस रोटियाँ गटक गये (और हजम कर गये)।" यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि जो कुछ कविवर गटक गये, वे सादी रोटियाँ थीं अथवा तंदूरी रोटियाँ। इतनी अल्प मात्रा में भोजन करने के पश्चात जो कविता रची जाती है उसका नमूना यह है :—

सौदा सौदा है तभी, अगर सेवा है।
सेवा सेवा है तभी, अगर अर्पण है।
अर्पण अर्पण है तभी, अगर पीड़ा है।
पीड़ा पीड़ा है तभी, अगर सोऽहं है।

इसमें बिम्ब भी है और नूतन सौन्दर्य भी है। यह हिन्दी-कविता में नवीन क्रान्ति है।

दूसरे स्थान पर एक कवयित्री हैं। उन्होंने नयी कविता का जो स्वरूप बताया है उस पर हिन्दी के हर प्रयोगवादी को गौर करना चाहिए। कवयित्री की सहेलियाँ क्या करती थीं कि 'पुडिंग की बनाई और पुलओवर की बुनाई' के साथ-साथ कविता-कहानी की चर्चा भी करती थीं। चर्चा करने में कोई हर्ज भी नहीं है "लेकिन एक दिन यह रहस्य भी खुला कि नयी कविता की भरपूर निन्दा करने वाली कई सदस्याओं ने स्वयं नयी कविता लिख कर कापियाँ भर डाली थीं।"

उपर्युक्त वक्तव्य से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि नयी कविता के सृजन में कितना अथक परिश्रम करना पड़ता है। जो 'नयी कविता' इतनी सहज और सर्व सुलभ है कि औरतें पुडिंग बनाने और स्वेटर बुनने से साथ ही उसकी कापियाँ भर सकती हैं उसे अगर सरकार, लड़कियों के लिए पाठ्यक्रम का एक विषय बना दे तो साहित्य का विकास भी होता रहेगा और 'ज्ञान की विलुप्त एवं अनुपलब्ध सामग्री' के प्रकाशन का अवसर भी कुछ प्रकाशकों के हाथ से न जाने पायेगा।

कवयित्री ने 'नयी कविता' की जो परिभाषा दी है वह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। कहती हैं "नयी कविता कभी जटिल और कभी बिल्कुल सरल हो जाती है। प्रायः शिथिल और कभी सुनिश्चित गठन वाली होती है। नगर की पृष्ठभूमि में लिखी गयी है पर गँवई-गाँव के शब्दों का उपयोग करती है।" यहाँ शायद कवयित्री यह लिखना भूल गयीं कि नयी कविता कभी तेजी से चलती है, कभी लंगड़ाने लगती है, कभी लम्बी हो जाती है कभी ठिगनी और ग्राम की पृष्ठभूमि में लिखी गयी होती है पर रेडियो, हवाई जहाज, टेलीफोन और रेस्टराँ वगैरह का प्रचुरता से प्रयोग करती है।

कुछ 'नयी कविताएँ' पढ़ भी लीजिए:

(१)

दिन दिन भर सोना
उठे भी तो भाग्य को रोना
बहुत हुआ तो किताबों में
दिल-दिमाग खोना।

(२)

लोहे का फाटक है फाटक पर बोर्ड है।
दृश्य कुछ यह पुराने माडल का फोर्ड है।
भँवरों का बुलबुल का सौरभ का भाग है।
शहर में हमारे यही कम्पनी बाग़ है।

सिर्फ एक कविता 'दीठ ना मिलाओ' है जिसमें कथ्य सुन्दर है। बाकी कविताओं का मूल्य उतना ही है जितना पुडिंग या पुल ओवर का।

तीसरे कवि भाषा के विद्वान होने के साथ उतने ही महत्वपूर्ण दार्शनिक मालूम होते हैं जितने कि डा० देवराज। नयी कविता की व्यापकता का बखान करते समय तो मानो उनकी भाषा भी जवाब दे जाती है : "उषा देवता से लेकर गधे तक, नग्न यौवन भावना से लेकर सामाजिक क्रान्ति तक, देहाती अमराई से

लेकर कल-पुर्जों तक इतना व्यापक विस्तार शायद पहले किसी वाद की कविता का न हुआ।'' प्रयोगवाद की व्यापकता के अतिरिक्त यहाँ यह भी पता चलता है कि देवता पुल्लिग है और उषा देवता हैं।

प्रयोगवाद एक नूतन सौन्दर्य शास्त्र भी तो लेकर अवतरित हुआ है। उसी सौन्दर्य के कारण ''नयी कविता में कहीं करुणा की झाड़ी में हास्य की डाली घुसी पड़ती है, कहीं वीर रस के पेड़ पर शृंगार की लता छायी है, कहीं एक ही पौधे में दो डालियाँ दो अलग-अलग जातियों की।'' कविता क्या है पूरी विश्व-बनस्पति है। इस कविता रूपी बनस्पति के मुख्य भाग हैं:

मायावादी और कायावादी

मायावादी रचना के तीन भाग हैं—विशुद्ध मायावादी, निर्वेग बौद्धिक, ऊब रस। काव्यशास्त्री नोट करें कि 'नयी कविता' में एक रस भी पाया जाता है और उसका नाम है—ऊब। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि यही एक ऐसा रस है जिससे सभी नयी कविताएं ओत-प्रोत हैं।

कायावादी रचना के मुख्य भाग हैं: नया शृंगार, नयी करुणा, नया वीर रस, नया शान्त रस। बाकी रसों को या तो प्रयोगवादी नया नहीं कर पाये हैं या अपने पास से उन्होंने खदेड़ दिया है।

हिन्दी के पाठक बड़े भुलक्कड़ हैं। बार बार यह कहने पर कि 'नयी कविता' टिकी हुई है वे तुरन्त भूल जाते हैं; इस कारण कवि महोदय यह याद दिला देते हैं कि ''यह नहीं भूलना चाहिए कि समाज के हमारे नये धरातल पर अगर टिकी है तो नयी कविता ही। पहले की अपसराएं कहाँ हैं; जाड़े के घने नीले आकाश में उड़ते धवल हवाई जहाज के सौन्दर्य का वर्णन किस वाद में है?'' वाद के विषय में तो हमें पता नहीं किन्तु उजले मेघों के बीच, नीले विहान के तले, वायु-मण्डल में तैरते पुष्पक बिमान का वर्णन संस्कृत के कुछ ग्रन्थों में हमने पढ़ा है और वह सौन्दर्य, वे मनहर चित्र, वे मन भावनी आकृतियाँ, स्मृति से उतरना नहीं जानतीं। और हम पूरे विश्वास से कहते हैं कि प्रकृति की मोहन आकृतियों के सृजन में जो कुशलता संस्कृत के कुछ कवियों ने दिखलाई, वह 'नयी कविता' के पतिंगों में क्या संसार के महत्तम कवियों में भी न मिलेगी।

कवि महोदय के लिए कविता का बनना लगभग वैसे ही है जैसे रात में सपने आना। और सपनेनुमा कविता भी पेश है—

> कभी जो तबीयत उदास रहती है
> तो दो-तीन रोटियां भी गले से उतरती नहीं
> कहीं जो रामू दे जाता है अंचार
> तो पूरी एक भी नहीं खाता।
>
> —विरह वर्णन

चौथे कवि शुद्ध बिम्बवादी हैं। उनके 'वक्तव्य' के एक छोर से दूसरे छोर तक चले जाइए आप को बिम्ब नजर आयेंगे। सचाई यह है कि केवल बिम्बों का भजन करने से ही सभी कवि बिम्ब-ग्रहण नहीं करा सकते। यह उन्हीं कवियों के लिए सहज है जो कविता में छन्द सौन्दर्य, शब्द-चयन और नाद सौन्दर्य का महत्त्व समझते हों। गहरी अनुभूति को बिम्बों द्वारा पाठक या श्रोता तक प्रेषणीय बना सकने की सामर्थ्य छिछले कवियों के वश की बात नहीं। जो लोग बिम्ब को अंग्रेजी 'इमेजिस्ट्स' (Imagists) की नकल पर एक वाद का रूप देकर ही प्रसन्न होते हैं वे कविता की उस भाव चेतना से अलग हो जाते हैं जिससे पाठक या श्रोता रस मग्न होता है।

आगे चल कर कवि महोदय प्रयोगवादी कविता की समीक्षा के लिए काव्य शास्त्र को असमर्थ पाते हैं क्योंकि आधुनिक कविता में रस की धारणा बदल गयी है। यह कोई ऐसा दावा नहीं है जिसे हिन्दी के प्रयोगवादी समीक्षक या कवि पहले न कर चुके हों। और फिर इस दावे की निरर्थकता और हल्केपन का विरोध करते हुए कहेंगे कि कविता का सम्बन्ध मनुष्य के मूल भावों से है। मनुष्य के मूल भाव—रति, शोक, क्रोध आदि कभी नहीं बदलते; सांस्कृतिक उन्नति से उनका परिष्कार होता

है और हुआ है लेकिन वे सदा मानवमन को उद्वेलित करेंगे। इस कारण काव्य की मूल भावना में भी परिवर्त्तन का प्रश्न नहीं उठता। प्रयोगवादियों में मनुष्य के मूल भावों को उद्वेलित करने की सामर्थ्य का अभाव है। इसीलिए हिन्दी या हिन्दुस्तान के महान कवि तो अलग, किसी भी उन्नत भाषा के साधारण कवियों की तुलना में भी हिन्दी के प्रयोगवादी कवि छिछले एवं बौने हैं। उनके यहाँ गहरी अनुभूति की कमी है, छन्द सौंदर्य लापता है, विचार कोष भ्रष्ट और कुत्सित है।

यह कथन भी उचित नहीं जान पड़ता कि 'काव्य के विषयों की सीमा नहीं बाँधी जा सकती।' जितनी रुचि से प्रयोगवादियों ने गंदे, कुत्सित, घृणित और बदबूदार चीजों पर अपनी लेखनी चलायी उसे देखते हुए यह आवश्यक है कि कुछ विषयों को काव्य की सीमा से दूर रक्खा जाय। रससिद्ध कवियों ने कभी गंदे विषयों—जैसे गधों, उल्लुओं, दुर्गन्धपूर्ण नाली, रिरियाते कुत्तों, मूत्र सिंचन और गिरे हमल आदि पर विस्तार से नहीं लिखा, यदि ऐसी चीजों पर उन्होंने लिखा भी तो इसलिए कि इनकी तुलना में सौन्दर्य का मूल्य और बढ़ जाये। यह प्रयोगवादी समीक्षकों के आशीर्वाद का ही फल है कि जो कवि ऐसी कविताएँ लिखते थे—

झीलों के पानी खजूर हिलेंगे
खेतों के पानी बबूल
पछुआ के हाथों में शाखें हिलेंगी
पुरवा के हाथों में फूल।
आना जी बादल जरूर।

वे 'कमरे का दानव' और 'रात' जैसी उद्देश्यहीन और निरर्थक कविताएँ लिखने लगे। प्रयोगवादियों की एक उपलब्धि यह भी है कि अंकुरित प्रतिभाओं को उन्होंने ऐसा भ्रमित किया कि वे किसी काम की न रहीं।

पाँचवें कवि महोदय के लिए मानव-जीवन एक कार्निवाल है और कवि एक बहुरूपिया। ऐसी हालत में कविता जरूर कोई बिजिनेस हो होगी। सच पूछिए तो ऐसे लोग ही प्रयोगवाद के विचार पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हमारे विचार से काव्य की श्रेष्ठता के लिए कवि के सांस्कृतिक स्तर का असाधारण महत्त्व है। संस्कृति के स्तर को ऊँचा उठाने में विचारों का भी अपना हाथ होता है। प्रत्येक महान कवि या लेखक मनुष्य की सांस्कृतिक परम्परा से प्रेरणा ग्रहण कर अपने आगे नये मार्ग का निर्माण करता है। जो कवि, मानव संस्कृति का विरोध करता है, मनुष्य का इस जीवन और जगत में विश्वास डिगाता है, अपने स्वार्थ के सम्मुख विशाल मानव जाति को हेय समझता है और प्रकृति के सौन्दर्य से आनन्दविभोर नहीं होता वह कभी महान् नहीं हो सकता। संसार के किसी भी महान् कवि या लेखक की रचना उठाकर देख लीजिए आप पायेंगे कि उसका उद्देश्य महान् रहा है। विचारों की व्यापकता और उद्देश्य की उच्चता से महानता का अटूट सम्बन्ध है। व्यापक विचार वही हैं जिनमें समग्र मानव जाति के सुख-दुख, हर्ष-विमर्ष का समावेश हो जाता हो; उच्च उद्देश्य वह है जिसमें मानव-समाज का मंगलकारी भविष्य जुड़ा हो।

जो लोग जीवन को कार्निवाल समझते हैं वे कविताएँ भी इसी कोटि की लिखते हैं :

बिल्कुल वीरान
मानो श्मशान
बरसों से खाली है
यह खाली मकान।

*

अनर्गल ज़िंदगी ढोते किसी दिन हम,
एक आशय तक पहुँच सहसा बहुत थक जायेंगे।

*

अनर्गल ज़िन्दगी से हमेशा थकान और श्मशान की ही बदबू आयेगी।

छठे कवि कोई ऐसे-वैसे आली नहीं, साक्षात विजयदेव नारायण साही हैं। घाट-घाट का पानी पी चुके हैं। कभी 'आलोचना' के चार सवारों में थे,

कभी अपने को गल्ती से, कम्युनिस्ट समझ बैठे। कुछ दिनों तक किसान-मज़दूरों के बीच भी वक्त काटा। लेकिन जहाँ मौका आया कविजी भाग खड़े हुए और किसान-मज़दूर नेताओं को मूर्ख तथा बेईमान समझने लगे। अब तो वैसा समझने की आदत पड़ गयी है। आदत को दोष दिया भी नहीं जा सकता, वह दिमाग की हालत पर मुनहसर करती है। हमने ऐसे ऐसे आदती देखे हैं जो 'राम चरितमानस' के रचयिता को मुँह फुलाकर गाली देते हैं, 'रंगभूमि' के महान कलाकार को सतही कह कर पुकारते हैं, 'रसमीमांसा' के रचनाकार को उखाड़ने के लिए रस की परिभाषा ही बदल डालते हैं और 'कामायनी' के श्रेष्ठ कवि को मुँह बिराने से बाज़ कहीं आते। हम ऐसे आदतियों को देखते हैं और हंस देते हैं।

फिर कवि महोदय का वक्तव्य शुरू होता है। उससे पता चलता है कि कवि आस्थावान है। उसकी आस्था के पच्चीस शील हैं। जिनकी जानकारी पंचशील तक सीमित है ये पच्चीस शील उनकी ज्ञानवृद्धि के सहज साधन हैं। साही जी के पच्चीस शीलों में से कुछ तो इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनको पेश किये बिना हम नहीं रह सकते :

"पहला शील: मैं बहुत अक्लबंद आदमी हूँ।" हमें आपकी अक्लमंदी में पूरा यक़ीन है, अगर शक है तो उनके भविष्य में, जो आपके विद्यार्थी हैं।

"दूसरा शील: मैं परम स्वतन्त्र हूँ। मेरे सिर पर कोई नहीं है।" सचमुच आप पूर्ण स्वतन्त्र हैं। आप के सिर पर और कोई नहीं सिर्फ आप का शरीर है।

"तीसरा शील: मैं संसार का सबसे महत्त्वपूर्ण प्राणी हूँ।" यकीन मानिए आपका कहना बिल्कुल सच है। अभी हमारे एक दोस्त कांके का पागलखाना देखने गये थे, वहाँ का हर सदस्य आपकी ही तरह आप के इस तीसरे शील को जोर जोर से घोषित कर रहा था।

"सातवां शील: कविता के क्षेत्र में केवल एक आर्य सत्य है : दुख है।" कविता के क्षेत्र में नहीं, प्रयोगवादी कविता के क्षेत्र में यही एकमात्र सत्य है।

"सोलहवां शील : कवि अभागा है।" क्षमा कीजिए आपके इस शील में हम एक शब्द जोड़ना चाहेंगे—प्रयोगवादी।

"बाईसवां शील: मुझसे पहले की पीढ़ी में जो अक्लमंद थे वे गूंगे थे।" आपकी पिछली पीढ़ी के बारे में आप से ज्यादा और कौन जान सकता है ! अपने पूर्वजों के विषय में आप की इस स्पष्टवादिता के हम प्रशंसक हैं।

"चौबीसवाँ शील: पचास से ऊपर वय हो जाना अपने पाप में अक्लमंदी का प्रमाण नहीं है। प्रमाण-पत्र में दूँगा।" इस शील के नियमानुसार आप से प्रमाण-पत्र पाने के लिये हम जैसे लोगों को तो अभी पच्चीस वर्ष और रुकना होगा लेकिन पचास से ऊपर वय वालों में किन-किन को आप प्रमाण-पत्र देना चाहते हैं, उनकी एक लिस्ट छाप दीजिए वरना क्या पता आपका दिमाग कल को और तेजी से काम करने लगे।

शील-पुराण के बाद कवि महोदय की कविता भी पढ़ लीजिए :

सुनिए जनाब
मेरी एक दिक्कत है
एक मिनट दीजिए
इतना कष्ट कीजिए
मुश्किल में जान है
आप भी इन्सान हैं
सुन तो लीजिए।

अगर 'नयी कविता' इसी प्रकार उन्नतिशील रही तो 'चना जोर गरम' वालों की रोजी छूट जायेगी।

काव्य के अभिमन्यु को प्रयोगवाद के व्यूह में घेर कर मारने वाले सातवें महारथी हैं आदरणीय श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना। कुसंग के कारण सक्सेना जी धुंआधार कविता लिखने लगे। काहिली, सुस्ती आदि हास्य रस के जितने स्थायी भाव हैं, वे आपके स्वभाव बन गये हैं।

लाचारी से इन्होंने कविता लिखना शुरू किया।

लाचारी से भी वे कविता के पास कदापि न फटकते यदि हिन्दी के जीवित कवियों में एक भी ऐसा होता जिसका जीवन-दर्शन व्यापक होता। यदि व्यापक दृष्टि वाले कवि न हुए तो समझदार आलोचक ही निकल आता! वह भी न निकला। आलोचकों का अभाव भी न खलता यदि इतने विशाल हिन्दी-भाषी प्रदेश में 'एक भी जागरूक पाठक' निकल आता। लेकिन वह भी न हो सका। इस प्रकार जब माता हिन्दी का भांडार प्रतिष्ठित कवियों, गण्यमान्य आलोचकों और जागरूक पाठकों से एकदम खाली हो गया तो तीनों अभावों को स्वयं पूरा करने के लिए सर्वेश्वरदयाल सक्सेना को अवतार लेना पड़ा। यह अवतार होना था कि पराजय, कुंठा, साहित्यिक मूढ़ताएं और अर्थहीन भावनाएं मुक्त होकर ताण्डव नृत्य करने लगीं:

सुनो, मैं भी पराजित हूँ
सुनों, मैं भी बहुत भटकी हूँ
सुनो, मेरा भी नहीं कोई
सुनो, मैं भी कहीं अटकी हूं
पर, न जाने क्यों
पराजय ने मुझे शीतल किया।

सच पूछिये तो पराजय वह मरहम है जिससे नकली कवि, आलोचक और पाठक का दायित्व एक साथ निवाहने वाले सज्जनों का दिमाग ठण्डा रहता है।

पराजय-गान के बाद संयोग शृंगार का भी सूक्ष्म विवेचन देखिए:

यह डूबी डूबी सांझ
उदासी का आलम
मैं बहुत अनमनी
चले नहीं जाना बालम।

ताज्जुब है कि सस्ती बम्बइया फिल्मों के निर्माताओं ने सक्सेना जी की प्रतिभा को अभी तक नहीं पहचाना।

संसार के अधिकांश प्राणी दृष्टि (आँख) से देखने का काम लेते हैं और कानों से सुनने का लेकिन सक्सेना जी ने इन दोनों इन्द्रियों के कर्मों में हेर-फेर कर दिया है! वे कहते हैं—

मैं नया कवि हूँ
इसी से मानता हूँ
चश्मे के तले की दृष्टि बहरी होती है।

मानना पड़ेगा कि ऐसी रचनाएँ काव्य से अधिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति कर रही हैं।

आगे बढ़ने पर पता चलता है कि सक्सेना जी की उपलब्धि इतनी ही नहीं है, ज्यादा है। गांव की एक औरत दूसरी को किस खूबी से समझाती है यह पढ़ कर तो 'नयी कविता' पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। सुनिए—

चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ।

ऐसी कविताओं की हिंदी साहित्य को जो महान देन है वह तो हम समझ गये हैं, सिर्फ एक बात से हमारा मतभेद है। बहुत से लोग कहते हैं कि नयी कविता का जन्म दस-बारह साल पहले हुआ था। हम कहेंगे यह सरासर ग़लत है। नयी कविता का जन्म बहुत पहले हो चुका था और इसका जन्म किसी कवि द्वारा नहीं बल्कि उस युवती द्वारा हुआ होगा जिसने ठिठोली करते हुए अपनी ननद से कहा होगा—

सरौता कहाँ भूल आइउ
प्यारी ननदोइया।

सक्सेना की पहलेवाली पंक्तियों की उपर्युक्त पंक्तियों से तुलना करने पर पता चलता है कि नयी कविता की जन्मदात्री ने जो परम्परा स्थापित की थी 'नये कवि' उसे आदर भाव से अपनाकर आगे बढ़ रहे हैं।

तटस्थ विवेचना से यह स्पष्ट हो गया कि प्रयोगवादी अथवा नयी कविता की उपलब्धियों की सीमा का अन्त नहीं। लघुमानव के नाम पर इसने मध्यवर्ग के उन हताश बाबुओं को अपना कायक बनाया जिनके लिए रोना-कलपना ही जीवन है। मध्यवर्ग के प्रबुद्ध और साहसी बुद्धिजीवियों का इसमें कहीं पता नहीं। नवीन मानव मूल्यों के नाम पर इस

कविता ने जो प्रस्तुत किया वह पश्चिम से नकल किया हुआ था। उससे भारत की सांस्कृतिक परम्परा अथवा वर्तमान सामाजिक जीवन से कोई सरोकार नहीं। पश्चिम के थके-हारे कवि और लेखक जो मनुष्य की प्रगति से घबड़ाकर कभी भविष्य को कोसते हैं, कभी समाजवाद को और कभी जोर-जोर से चिल्लाने लगते हैं इन प्रयोगवादियों के रहनुमा हुए।

जब हमारे देश की जनवादी शक्तियाँ, प्रतिक्रियावादी चट्टानों को तोड़कर मनुष्य के मंगलकारी भविष्य निर्माण की ओर उन्मुख हैं, जब उनके संघर्ष को रोकने की चेष्टा में देश के व्यक्तिगत मुनाफाखोरों की जमात लगी हुई है तो अपने निराश, भग्न और हताश स्वर के द्वारा बिलखते हुए प्रयोगवादी उन जनविरोधी शक्तियों के झंडे के नीचे हैं। अपने श्रम का उचित मूल्य पाने के लिए जब देश की बुद्धिजीवी और कामी जनता, थैलीशाही व्यवस्था के अलमबरदारों से जूझने के लिए उठ खड़ी हुई है तब प्रयोगवादियों ने अपने साहित्य के द्वारा उस उमड़ते हुए जनसमुद्र को पीछे ढकेलने का नाटक खड़ा किया है। किन्तु हिन्दी और हिन्दुस्तान की महान काव्य परम्परा की आधारशिला पर खड़ा आलोचक समुदाय निडर और निर्भीक होकर, गंदे बिम्बों और गैर सामाजिक प्रवृत्तियों के इस नाटक का यवनिका पतन देखता रहा। प्रयोगवाद को कोई प्रबुद्ध और जनप्रेमी आलोचक न मिला। हर ईमानदार आलोचक ने उसकी विमूढ़ता, अर्थहीनता और दुर्बोधता की खिल्ली उड़ाई। यही कारण है कि आत्मरति-ग्रस्त प्रयोगवादी या नयी कविता की रीढ़ टूट गयी और वह घिसटती हाँफती अपना दम तोड़ रही है। यह प्रगति की प्रतिक्रिया पर विजय है। यह मानव-प्रेम की मानव विरोध पर विजय है। यह कविता की 'नयी कविता' पर विजय है।

———

(पृष्ठ ८ का शेषांश)

जित्तव गांव लौट आया लेकिन "गांव के लोग पहचानते ही नहीं, माने।" कैसे पहचानें अपने हीरो को? लोग ठहरे कायर, वह ठहरा हीरो! लोगों ने उसका ट्रैक्टर घेरा लेकिन दिलबहादुर के खुकरी निकालते ही "लोग एक दो कर भागने लगे और लुत्तों को भागते देखकर उसकी 'जन्ता' उससे पहले भागकर पाट के खेत में जा छिपी।" जित्तन जंगल लगाता है, परती में वृन्दावन सजा देता है, नाटक की तैयारी करता है लेकिन गांव के अधिकांश लोग उदासीन, तटस्थ और शंकालु होकर देख रहे हैं कि जित्तन नाटक तमाशा करने जा रहा है। असल में जनता को सुख देने वाले ऊपर वाले वर्गों के लोग हैं और मूढ़ जनता इतना भी नहीं जानती कि कौन उसकी भलाई करता है और कौन उसे ठगता है। "बेचारी जनता का क्या दोष? ऊपर से थोपे हुए सुख को वह क्या समझे? मन की परती ज्यों की त्यों पड़ी हुई है। वीरान होती जा रही है। लगता है मन को छूने वाला मंत्र ही हम भूल गये हैं।" प्रेमचन्द की जनता से यह जनता कितनी भिन्न है? स्वयं अपनी भलाई कर नहीं सकती, दूसरे करें तो उससे पहचानने की बुद्धि भी नहीं है। जित्तन पर लोग ढेले फेंकते हैं लेकिन बहुत जल्दी अपनी गलती महसूस कर लेते हैं। जित्तन नाटक की तैयारी से ही मन की परती को छू लेता है। हरिजन कन्या मलारी के वर्ण-विरोधी प्रेम के कारण लोग नाराज थे लेकिन "मलारी रेवड़ी बाँट रही हैं। किसी के मन में अभी मैल नहीं। सभी उसके मुँह की ओर देखते हैं।" छित्तन बाबू ने पुस्तकालय की किताबें झाड़ ली थीं, "माफी माँगकर बची-खुची किताबें वापस दे दी हैं।" एक महाशय ने गाँव का रेडियो हथिया लिया था। उन्होंने कीमत देने का वचन दिया। और "आसन्नप्रसवा परती हँसकर करवट लेती है।" जमींदार जित्तन और कुछ सरकारी अफसरों के प्रयास से यह क्रांति हो जाती है! राजनीतिक पार्टियों का काम है कि वे इस क्रान्ति में रोड़े न अटकायें! जनता का काम है कि वह ऊपर से सुख की वर्षा करने वालों के प्रति कृतज्ञ हो!

"मैला आंचल" तक प्रेमचन्द की परम्परा के कुछ निशान बाकी थे; "परती परिकथा" तक आकर वे मिट जाते हैं और रह जाता है इलियट का शुद्ध प्रयोगवादी वेस्टलैंड!

—रामविलास शर्मा

———

"खण्डित व्यक्तित्व और साहित्य"

श्री रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

साहित्य और संस्कृति में अटूट सम्बन्ध है। जीवन के वास्तविक संदर्भ के धरातल पर दोनों एक हैं। संस्कृति, जीवन को अर्थवत्ता देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का दूसरा नाम है अर्थात् किसी समाज की संस्कृति अपने युग की परिस्थितियों से निर्धारित मानव समुदाय की उस आन्तरिक शक्ति-स्रोत को कहते हैं जो तत्कालीन समाज को जीवन की सार्थकता का बोध कराता रहता है। उच्च-कोटि का साहित्य भी मनुष्य को न केवल उसके जीवन के वास्तविक सन्दर्भ में देखने की दृष्टि देता है अपितु जीवन की अर्थवत्ता एवं सार्थकता का बोध कराने में भी समर्थ होता है। लक्ष्य के इस धरातल पर दोनों एक हैं।

जीवन की सार्थकता का बोध प्रत्येक व्यक्ति को उचित रूप में हो ही जाता हो—ऐसा नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी व्यक्ति उस सार्थकता का अनुभव तो करता है—पर उसको पूरी तरह से समझ नहीं पाता। साहित्य, जीवन की बोधात्मक प्रतीति को, जो सूक्ष्म होने के कारण अशरीरी होता है, मूर्त्त एवं ठोस प्रतीकों (Concrete images) के माध्यम द्वारा, जन-साधारण को प्रत्यक्ष कर देता है। इस प्रकार जो संस्कृति जनसाधारण के जीवन में प्रच्छन्न (Latent) रहती है उसकी साहित्य द्वारा न केवल रसात्मक अनुभूति होती है, अपितु उसके वास्तविक स्वरूप का दर्शन भी होता है। अत: साहित्य, संस्कृति से इसलिए विशिष्ट है कि प्रथमत: वह जीवन की सार्थकता की बोधात्मक प्रतीति—जो सूक्ष्म होने के कारण प्रच्छन्न (Latent) रहती है, उसका प्रत्यक्ष दर्शन कराने में सफल होता है, दूसरा, वह उस बोधात्मक प्रतीति की रसात्मक अनुभूति कराने में भी समर्थ है।

इस विश्लेषण के आधार पर ऐसा लगता है जैसे संस्कृति और साहित्य का अन्तर केवल प्रतीति का अंतर है। पर हम यह भी जानते हैं कि साहित्य एक रचनात्मक प्रक्रिया (Creative process) का परिणाम है। वह जीवन की यथातथ्य अभिव्यक्ति अथवा सफल अनुकृति नहीं होता। साहित्यकार में सृजन की प्रतिभा होती है, उसमें निर्माण की क्षमता होती है। अत: अपने समय की संस्कृति को हूबहू वैसे ही अपनाकर वह संतुष्ट नहीं हो जाता। समाज में मानव-जीवन की सार्थकता के प्रति जो बोधात्मक-प्रतीति होती है—केवल उसकी रसात्मक अनुभूति कराने तक ही अपने को सीमित कर नहीं रह जाता। वह कुछ निर्माण करता है, कुछ सृजन करता है। (पर सृजन किसका ? क्या भौतिक जगत का ? क्या सामाजिक परिस्थितियों का ?) नहीं, अपनी सृजनात्मक-प्रतिभा के सहारे वह नए-नए मानव-मूल्यों का निर्माण करता है, इन नए नए मानव-मूल्यों द्वारा मानव-जीवन को वह नयी अर्थवत्ता एवं सार्थकता देने का अनवरत प्रयत्न करता है। अत: युग की संस्कृति से साहित्यकार एवं उसका साहित्य केवल प्रभावित ही नहीं होता, वरन् इन नए मानव-मूल्यों द्वारा संस्कृति को प्रभावित भी करता है। इस प्रकार साहित्यकार मानवात्मा का शिल्पी भी है। उसके दायित्व का यह पहलू ही उसके कार्य की गुरुता को और भी विशिष्ट बना देता है। मानवात्मा का शिल्पी होने के नाते सृजन का जो गुरुतर भार है साहित्यकार संवहन करता है, वह उसके लिए कोई साधारण दायित्व नहीं होता है।

समाज-विज्ञान द्वारा अब यह पूर्ण रूप से निश्चित किया जा चुका है कि चेतना की स्वयं कोई अपनी आधिभौतिक अथवा स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। मनुष्य की चेतना (Consciousness) उसके जीवन क्रम में आये क्रिया-व्यापार द्वारा निर्मित एवं निर्धारित होती

है। पर उसके साथ यह भी सत्य है कि एक बार चेतना का प्रकृति-निर्धारण एवं स्वरूप-निर्देश हो जाने के उपरान्त वह स्वयं सामाजिक शक्ति बनकर जीवन को प्रभावित करने लगती है। कुत्सित समाजशास्त्री इस तथ्य को भले न स्वीकार करें पर इस सत्य का निर्देश स्वयं ऐंगेल्स ने किया है। 'मार्क्सवाद क्या है?' नामक पुस्तक में एमेली बर्न्स ने भी इस सत्य की ओर स्पष्ट संकेत किया है।[1]

युग की यह सांस्कृतिक चेतना, तत्कालीन परिस्थितियों एवं अन्तर्शक्तियों के द्वन्द्व-प्रतिद्वंद्व के फलस्वरूप कुछ ऐसी आधारभूत मान्यताओं को जन्म देती हैं जो अपने समय में व्यवहृत होने वाली सम्पूर्ण दर्शन-सम्पदा की प्राण-ध्वनि होती है। ये आधारभूत मान्यतायें युगात्मा की आवाज बनकर व्यक्तियों के प्रत्येक क्रिया-कलाप का जानअनजान में नियंत्रण करने लगती हैं। युग के चिन्तन-परिवेश की यह चहारदीवारी जनसाधारण के विचारों की अपनी सीमा बन जाती है जिसके भीतर रहकर ही बहुधा वह सोचता, समझता और अपने समय की आस्थाओं को दोहराया या थोड़ा बहुत हटकर उससे समझौता करता रहता है। युग का सत्य, तत्कालीन मानवमूल्यों के साथ हमारे दैनिक जीवन में उतरने लगता है और फिर तो कुछ समय पश्चात् वह हमारे खून में कुछ इस प्रकार घुलमिल जाता है कि उसे जानने के लिए हमें न किसी पाठशाला की आवश्यकता पड़ती है और न किसी पुस्तक की। सामाजिक वातावरण के हर क्षेत्र में व्याप्त युग का यह स्वर हमारी जीवनेच्छा की प्रत्येक सांस के साथ अन्तस के समीप आता जाता है और बाद में आत्मा के भीतर वह इतनी गहरायी से जड़ जमा लेता है कि हमारी संवेदनायें कंडीशंड रिफ्लेक्स (Conditioned reflex) के सिद्धान्त के अनुसार उसके अनुरूप अपने आप 'रिस्पांस' करने लगती हैं।

एक ओर सांस्कृतिक संवेदनायें युग के सामाजिक जीवन की इस गहरायी तक जाकर प्रभावित करती हैं, दूसरी ओर सतत विकासशील होने के कारण समाज अपनी पूर्व स्थिति से स्वयं आगे बढ़ जाता है। बदली हुई ये परिस्थितियाँ एवं नूतन सामाजिक संदर्भ, परिस्थिति-सापेक्ष्य नयी संस्कृति, नए मानव-मूल्यों की माँग करती हैं। मनुष्य अपनी बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार जीवन की अर्थवत्ता मानवगत अधिक सम्यक् सार्थकता को ढूंढ़ने की कोशिश करता है पर हम यह जानते हैं कि सामाजिक परिस्थितियाँ जिस सरलता एवं शीघ्रता से बदलती हैं, आत्मा को बहुत गहराई तक जकड़े रहने के कारण उसी तीव्रता के अनुपात में युग की सांस्कृतिक चेतना नहीं बदल पाती। परम्परा से प्राप्त सांस्कृतिक चेतना और परिस्थिति विशेष की मांग के अनुसार मानव-मूल्यों के निर्माण की आकांक्षा में संघर्ष उत्पन्न होता है। यही तनाव (Tension) की स्थिति है। वस्तुतः सृजन का यही वातावरण है, यही पीड़ा का वह गर्भ है जहाँ साहित्य रूपी बालक के शरीर में आत्मा पहले पहल प्रवेश करती है।

परम्परागत सांस्कृतिक चेतना एवं बदली हुई परिस्थितियों के गर्भ से अनुस्यूत नए मानव-मूल्यों के निर्माण की आकांक्षा के बीच जो कल्चरल लैग आ जाता है, नूतन मानव-मूल्यों द्वारा निर्मित ब्रिज के रूप में साहित्यकार उसी को कम करने की कोशिश करता है। वह युग की मांग के अनुसार नए मानव-मूल्यों का निर्माण करने की ओर प्रवृत्त होता है, मानव जीवन को परिस्थिति-सापेक्ष्य सम्यक् सार्थकता का बोध कराता है। जितना श्रेष्ठ साहित्यकार होगा, कल्चरललैग की दूरी द्वारा उद्भूत उतनी ही अधिक एवं तीव्र पीड़ा की उसे अनुभूति होगी।

---

१. 'But although Ideas cau only arise from material condition, when they do arise they certainly exert an influence on men's action and therefore on the cource of life.'

Emile Burns 'What Is Marxism' P. 11.

यहाँ पर एक और तथ्य पर विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है। मानव-मूल्यों का निर्माण दार्शनिक भी करता है। वह भी बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल मानवगत मूल्य एवं सामाजिक दर्शन का अनुसंधान करता है। फिर क्या दार्शनिक और साहित्यकार एक हैं? या दर्शन एवं साहित्य में कुछ अन्तर भी है?

हम पहले यह कह चुके हैं कि साहित्यकार का क्षेत्र अनुभूति का क्षेत्र होता है अतः कल्चरल लैग से उत्पन्न पीड़ा की अनुभूति से उसका लगाव पहले होता है और नयी परिस्थितियों के संदर्भ में कौन से नए मानव-मूल्य हो सकते हैं, परिवर्तित सामाजिक अवस्थाओं के संदर्भ में जीवन की नयी सार्थकता क्या है—उसका स्वरूप निर्धारण एवं विवेचन का स्थान उसके लिए बाद में आता है। ध्यान रहे कि यह मैं नहीं कहता कि नए मानव-मूल्यों के निर्धारण से उसे तटस्थ रहना चाहिए अथवा उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। पर यह उसका गौण कर्तव्य है। अतः अगर इस मांग की पूर्ति वह नहीं भी करता, तब भी वह साहित्यकार रह सकता है, भले ही उसका साहित्य अधिक सार्थक न हो। बालज्राक का साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसने टूटती सामन्ती प्रथा का निर्देश मात्र दिया है, दो संस्कृतियों के संघर्ष की अनुभूति का वर्णन मात्र किया है। नये मानव मूल्य के निर्माण का प्रभाव उसके साहित्य में कहीं नहीं है। पर अगर कोई साहित्यकार स्रष्टा की अनुभूति के साथ साहित्य में दृष्टा पक्ष द्वारा निर्धारित मानव के नये मूल्यों का निर्माण भी करता है—तो उसकी रचना, साहित्यकार ही नहीं, सबल साहित्य (Forceful literature) बन जाती है। गोर्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'मदर' और प्रेमचन्द के 'गोदान' का नाम इस दृष्टि से उद्धरणीय है। साहित्य के इस विधा के ठीक विपरीत, दर्शन का सम्बन्ध पहले नए संदर्भ में नए मानव-मूल्यों के निर्माण से होता है। अनुभूति पक्ष उसके लिए गौण होता है।

वस्तुतः दर्शन एवं साहित्य का अन्तर साध्य का अन्तर नहीं अपितु साधना का है, यह विचार एवं विचारों की अनुभूति का अन्तर है। व्यक्तित्व के दो पक्ष—सृष्टा एवं दृष्टा, में किसी एक की प्राथमिकता देने का अन्तर है।

सरिता के स्वतन्त्र प्रवाह में कौन सी बाधायें आ रही हैं, किस प्रकार के रोड़े-पत्थर एवं रुकावट के अन्य साधन बीच में आते हैं, इसकी अनुभूति किनारे पर खड़े रहने वाले तटस्थ दर्शक को नहीं हो सकती। उसके लिए तो स्वयं सरिता में प्रवाहित होना पड़ेगा, प्रवाह के साथ साथ बहना होगा। सृजन का क्षण एवं पीड़ा की अनुभूति उस स्थिति विशेष को कह सकते हैं जब व्यक्ति परम्परा के प्रवाह में बहकर आये हुए अवरोधों एवं छोटी मोटी रुकावटों का अनुभव करता हुआ उस संधि-रेखा तक पहुँच जाता है, जहाँ वर्तमान काल का तनाव व्याप्त हो, जहाँ परिवर्तित परिस्थितियों के कारण पूरा का पूरा समाज नए मानव-मूल्यों के निर्माण के लिए छटपटा रहा हो। जहाँ कल्चरल लैग आ जाने के कारण सांस्कृतिक धारा प्रवाह टूट गया हो जिसके फलस्वरूप रूढ़िवादिता (Stagnant) का पूरा वातावरण जीवन के विकास को जकड़ बैठा हो। महान साहित्यकार पीड़ा की इसी अनुभूति का वर्णन करता है, समाज की इसी घुटन एवं बेचैनी को अभिव्यक्ति देने के लिए उसकी आत्मा छटपटाती है। इसी से त्राण पाने के लिए मानव-मूल्यों के निर्धारण की ओर प्रवृत्त होता है। साहित्यकार के स्रष्टा पक्ष की यही यथार्थभूमिका है, उसके दृष्टा पक्ष के गुरुतर दायित्व की यही प्रमुख प्रस्तावना है।

"स्रष्टा एवं दृष्टा, इन दो पक्षों के समुचित योग से ही कलाकार का व्यक्तित्व सम्पूर्णता को प्राप्त होता है। स्रष्टा के रूप में कलाकार अपने चारों ओर फैले वातावरण में व्याप्त सुख-दुख, आशा-निराशा, भाव-अभाव, जीवन-मरण आदि का सफल चित्रण करने में समर्थ होता है। इसी शक्ति के आधार पर उसकी समर्थ लेखनी देश और काल के चेहरे पर पड़ी हलकी शिकन

को साहित्य में अभिव्यंजित करने में समर्थ होती है। पर कलाकार का महत्व अपनी लेखनी की अतुलनीय शक्ति द्वारा संवेदनशील अनुभूतियों को जनसाधारण के लिए प्रेषणीय बना देने मात्र में ही सीमित नहीं होता। स्रष्टा के साथ साथ कलाकार दृष्टा भी होता है। अतः उसकी सहानुभूति अपने भीतर इतिहास की गतिवर्द्धक शक्तियों एवं प्रगतिशील वृत्तियों को किस अनुपात में समाहित किये है, उसकी चेतना की भावभूमि कितनी व्यापक है, इसका भी समुचित प्रभाव साहित्य पर पड़ता है। समाज किस गति से किस दिशा में आगे बढ़ रहा है, उसकी प्रगति में कौन से विरोधी, विकास का क्रम उसे किस ओर खींचे लिये जा रहा है—आदि समस्याओं का ज्ञान कलाकार का दृष्टा पक्ष ही करता है। इस ज्ञान के परिवेश में अगर कला की रचना नहीं हुई, तो कलाकृति में विषय की न तो गम्भीरता ही मिलेगी और न यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता के साथ पकड़ने की अन्तर्दृष्टि।

स्पष्ट है, कलाकार का द्रष्टा पक्ष इतिहास की गतिशील वृत्तियों एवं नए मानव-मूल्यों का उचित आकलन एवं निर्माण करता है और उसी के संदर्भ में उसका स्रष्टा-पक्ष सामाजिक यथार्थ को और भी सटीक बनाकर कलात्मक आवरण प्रदान करता है। जब तक स्रष्टा एवं द्रष्टा पक्ष की प्रकृति में सामंजस्य रहता है, कलाकृति निर्दोष रहती है। पर जैसे ही उसकी एकरूपता में व्यवधान पड़ता है, कलाकार का व्यक्तित्व खण्डित हो जाता है तदनन्तर अपने आप असंगतियां रचनाओं से अनुस्यूत होने लगती हैं।

असंगतियों के अनुस्यूत होने का भी कारण है। स्रष्टा के रूप में कलाकार अपनी रचनाओं में जिस सामाजिक यथार्थ की अभिव्यंजना करता है, वह भविष्यत् की ओर एक निश्चित संकेत देता है। अगर कलाकार का द्रष्टा पक्ष सबल और दोषरहित रहा, तब वह इतिहास की गतिवर्द्धक शक्तियों का उचित मूल्याङ्कन करने में समर्थ होगा और उसके इस द्रष्टा पक्ष द्वारा वर्णित भविष्यत् का संकेत, स्रष्टा पक्ष द्वारा अभिव्यंजित सामाजिक यथार्थ द्वारा निर्देशित संकेत के साथ अभिन्नता स्थापित करता रहेगा। पर स्रष्टा एवं द्रष्टा-दोनों पक्षों में किसी के निर्बल हो जाने से रचना में विरोधाभास का आ जाना स्वाभाविक है। जब कलाकार का द्रष्टा पक्ष समाज की ऐतिहासिक शक्तियों का उचित आकलन न कर, अपने चित्त के अनुसार भविष्य की कल्पना करने लगता है, उस समय द्रष्टा पक्ष द्वारा अभीप्सित काल्पनिक आदर्श कुछ संकेत देता पाया जाता है और स्रष्टा के रूप में चित्रित सामाजिक यथार्थ एवं उससे ध्वनित इतिहास की गतिवर्द्धक शक्तियां, भविष्यत के लिए कुछ और ही संकेत देती देखी जाती हैं। इस प्रकार रचनाओं में अन्तर्विरोधी स्वर अपने आप मुखरित हो उठता है।"

व्यक्तित्व के इन दो पक्षों को मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर भी समझा जा सकता है। फ्रायड, एडलर एवं लडविग के अतिवादी सिद्धान्तों की चर्चा न कर यहां पर मैं इन तीनों सिद्धान्तों के आधार पर अपने मत की पुष्टि करते हुए जुंग के सिद्धान्त 'व्यक्तित्ववाद' (Theory of Individuation) की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा। वैसे भी व्यक्तित्व को उसकी सम्पूर्णता के रूप में समझने के लिए जुंग का यह सिद्धान्त अधिक वैज्ञानिक एवं विशिष्ट है।

फ्रायड के अनुसार मनुष्य का 'साइक' दो भागों में विभाजित होता है—चेतन और अचेतन (Conscious & unconscious)। जुंग ने अचेतन को भी दो भागों में विभाजित किया— 'व्यक्तिगत एवं सामूहिक (Personal & Connective)। व्यक्तिगत अचेतन में व्यक्ति के अपने जीवन काल की स्वाभाविक एवं मूल प्रवृत्तियां दबी पड़ी रहती हैं। ठीक इसी स्तर के नीचे सामूहिक अचेतन का क्षेत्र रहता है जिसमें व्यक्ति की दबी हुई वे मानसिक ग्रन्थियाँ मिलती हैं जिसको वह समाज अथवा मानव समुदाय का एक सदस्य होने के कारण अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करता है। नैतिक मान्यताओं के आधार पर दबायी गयी उन स्वाभाविक प्रवृत्तियों (Natural Instincts)

का यह संक्षिप्त संचित कोष है जो वर्षों से नैतिक शासन की छलनी में छनकर यहां एकत्रित होती गयी हैं।

जुंग एक और शब्द का प्रयोग करता है-वह है—"परसोना (Persona) उसके अनुसार 'परसोना' एक ऐसा नकली चेहरा (Mask) है जिसको व्यक्ति अपनी स्वाभाविक एवं मूल-वृत्तियों को छिपाने के लिए काम में लाता है। रात्रि के अँधेरे में जिस काम को स्वाभाविक समझकर कार्यान्वित करने में व्यक्ति नहीं हिचकता उसी कर्म को दिन के उजाले एवं सामाजिक जीवन के खुले प्रांगण में, चेतन मन के जिस अहम्पक्ष (Ego) की शक्ति के परिणामस्वरूप वह पूर्ण नहीं कर पाता—वही शक्ति जुंग के शब्दों में 'परसोना' है। चेतन मन के अहंपक्ष (Ego) एवं व्यक्तिगत और सामूहिक अचेतन में सामंजस्य स्थापित कर ही व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त हो सकता है। और इसके लिए आवश्यक है कि वह 'परसोना' का अपनी जीवन-दृष्टि से बहिष्कार कर दे। जब तक अपने व्यक्तित्व के ऊपर लगाये गये इस 'नकली चेहरा' का वह त्याग नहीं करता, उसके 'साइक' के दोनों पक्ष में सामंजस्य भी स्थापित हो पाना असंभव है।

वस्तुत: व्यक्ति का जीवन दो छोरों के बीच चक्कर खाता रहता है और ये छोर हैं अहं और अचेतन[१]। (Ego & unconsciousness)। 'परसोना' का बहिष्कार कर जब व्यक्ति 'Anima' की सहायता से 'अचेतन' के साथ सामंजस्य स्थापित कर लेता है—उस समय वह उच्चस्तर अर्थात् व्यक्तित्व की पूर्णता (Self) की स्थिति को प्राप्त करता है। सार्थक साहित्य इसी स्तर से निसृत रचना होती है जहाँ एक ओर अहं का योग होने के कारण वे व्यक्ति के चेतन अंश की मांग करती हैं और दूसरी ओर 'सामूहिक-अचेतन' के साथ सम्बन्धित होने के कारण उनका प्रभाव समूहगत (Generic) होता है।

कलाकार का स्रष्टा पक्ष का सम्बन्ध 'समूहगत अचेतन' के साथ है[१] जबकि द्रष्टा पक्ष का व्यक्ति के अहं के साथ। 'परसोना' को व्यक्ति के द्रष्टा पक्ष का रूढ़िगत अंश समझा जाता है। अखण्डित व्यक्तित्व (Integrated personality) जिसे जुंग 'self' कहकर पुकारता है वस्तुतः सृष्टा एवं द्रष्टा के समुचित योग के परिणाम का ही प्रतिफल है।

यद्यपि फ्रायड का सिद्धान्त व्यवहार-पद्धति में कुछ अंशों तक एकाङ्गी है, फिर भी व्यक्तित्व विश्लेषण में उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है। उसके अनुसार व्यक्ति के अहं पक्ष का संतुलित रहना ही व्यक्तित्व की स्वस्थ प्रकृति (Normality) का परिचायक होता है। मन की स्वस्थ-प्रकृति की अवस्था में ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण-विकास कर सकता है। पर फ्रायड के मत में 'अहं' को संतुलित रखना एक कड़ी साधना की अपेक्षा रखता है क्योंकि उसके अनुसार 'इगो' को अपने तीन कठोर शासकों की आज्ञा का निरन्तर पालन करना पड़ता है। और वे तीन शासक हैं बाह्य-जगत, 'सुपर इगो' और 'इड' (Id)[२]

१—"The individual and society are divided from one-another like two poles, between which life oscillates. In the psyche the corresponding qualities are individual (ego) & collective (unconsciousness) life moves backwards and forwards between the two...."
—Joseph Goldbrunner—"Individuation"—p. 95

१—"The poets are able to provide further inside into the secret depth of the collective unconscious and its contents. It is His own depth which is the creative element in the artist, not his constructive mind....' ibid. p. 139.

२. Freud—New Introductory Lectures On Psycho-Analysis" p. 103.

जब कभी 'इगो' इनके साथ अपने स्वाभाविक सम्बन्ध को स्थापित करने में असमर्थ हो जाता है अर्थात 'इगो' के साथ जब इन तीन शासकों की प्रवृत्तियों में मेल नहीं बैठता, असंगतियां अपने आप प्रादुर्भूत हो उठती हैं। क्रम से हम देखें तो इन्हें बाह्य-जगत (Objective), नैतिक (Moral) एवं स्वाभाविक (Neurotic) सम्बन्धी असंगतियाँ कह सकते हैं।

जिस सांस्कृतिक एवं नैतिक सिद्धान्तों की चर्चा हमने पहले की है, उसका संबंध वस्तुत: 'सुपर-इगो' और 'इगो' के पारस्परिक सम्बन्ध से है। जहां तक 'सुपर-इगो' का प्रश्न है, वस्तुत: वह 'इगो' का ही वह परिवर्द्धित अंश है जो व्यक्ति की नैतिक मान्यताओं को वहन करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह व्यक्ति के चेतन-अचेतन मन का वह अंश है जो Conscience को निर्धारित करता है तथा नैतिक मान्यताओं के साथ साथ 'अहं' के आदर्श (Ego ideal) की पूर्ति के लिए सदा तत्पर रहता है। लेकिन ध्यान देने की बात है कि फ्रायड, इस (Conscience) को व्यक्ति के भाव एवं आत्म-जगत के साथ सम्बद्ध कर भी उसे आधिभौतिक नहीं मानता और न वह यही स्वीकार करता है कि मन का यह अंश आरम्भ से ही व्यक्ति की अपनी स्वाभाविक एवं मूल-प्रवृत्ति के साथ निहित मिलती है। उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं कि बालक पहले वस्तुत: नैतिकता-निरपेक्ष (a-moral) ही होता है अतः अच्छा-बुरा का विचार-निर्धारण करने वाला उसका Conscience जन्म-गत नहीं होता। यह तो जीवन-प्रक्रिया में आयी हुई बाद की स्थितियों का परिणाम होता है।

जो बाह्य-परिस्थितियाँ बच्चे के 'सुपर-इगो' का निर्माण करती हैं उसमें माता-पिता द्वारा दी गई शिक्षा दीक्षा एवं पालन-पोषण के योग को फ्रायड बहुत अधिक महत्व देता है। माता-पिता के संसर्ग में रहकर ही बालक, लाड़-प्यार एवं डांट-फटकार के रूप में मुख्य रूप से कार्य के अच्छे-बुरे होने का ज्ञान पाता है। अत: उसकी यह मान्यता माता-पिता की नैतिक मान्यताओं की मुखापेक्षी होती है। बावजूद इसके कि उसकी आन्तरिक प्रवृत्तियों का स्वाभाविक झुकाव कुछ करने की सलाह दे रहा हो, उसकी स्वयं की इच्छा एक निश्चित कार्य करने की ओर उन्मुख हो, वह माता-पिता के डाँट-फटकार से बचने अथवा उनका लाड़-प्यार पाने के लिए एवं अन्य सामाजिक लांछनाओं से बचने के लिए वह बहुधा वही कार्य करता देखा जाता है जो उसके माता पिता अथवा सामाजिक दृष्टि में नैतिक एवं अच्छे हों। और खूबी यह कि जब यही बालक बड़ा होकर पिता के पद पर आसीन होता है, उस समय वह स्वयं अपनी कठिनाइयों को भूल जाता है। वह यह सोचने की चिन्ता भी नहीं करता कि बाल्यावस्था में उसने भी कभी अपनी आन्तरिक प्रवृतियों एवं माता-पिता द्वारा निर्धारित मान्यताओं के संघर्ष की कटुता का तीव्र अनुभव किया था। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति का यह 'सुपर इगो', उसके माता-पिता के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के आधार पर निर्मित न होकर आपातत: उनके 'सुपर-इगो' के आधार पर निर्धारित होता है। वह अपने माता-पिता के 'सुपर-इगो' को ही अपने भी 'इगो' में उतार डालता है और इस प्रकार एक बार गत्यात्मक-शक्ति पाने के पश्चात यह 'सुपर-इगो' पीढ़ी दर पीढ़ी नीचे उतरता चला जाता है।

इस विश्लेषण के आधार पर हम यह प्रतिपादित करने की स्थिति में हैं कि व्यक्ति का यह 'सुपर-इगो' उसकी अपनी स्थितियों एवं तत्कालीन सामान्य परि-स्थितियों के आधार पर आधारित न होकर मूलत: परम्परा से प्राप्त मान्यताओं को संवहन करने का कार्य सम्पादित करता है। यह मैं नहीं कहता कि परम्परा से प्राप्त ये सभी नैतिक मूल्य मनुष्य के लिए रूढ़िगत एवं त्याजनीय हैं पर यह तो कहा ही जा सकता है कि सभी प्राचीन मूल्य साधु ही नहीं होते अत: सुपर-इगो पर आधारित व्यक्ति के नैतिक मूल्यों के साधु-असाधु पक्ष के सम्यक परीक्षण की माँग भी उपेक्षणीय नहीं है। 'सुपर-इगो' पर आधारित मान्यताएं पता नहीं किस काल में सामाजिक अवस्थाओं का परिणाम रही

हैं और उस युग से भिन्न, आज की परिवर्तित परिस्थितियाँ किन नए नैतिक मूल्यों की माँग कर रही हैं ? अगर आज की परिवर्तित परिस्थितियाँ—जिसका ज्ञान 'इगो' पक्ष द्वारा हमें हो जाता है—नए मानव-मूल्यों के निर्माण की मुखापेक्षी हैं और इस नए 'मानव-मूल्यों' का संघर्ष परम्परा से प्राप्त 'सुपर-इगो' द्वारा निर्धारित नैतिक मान्यताओं के साथ होने लगता है, उस समय प्रत्येक प्रगतिशील विचारक की तरह साहित्यकार के लिए भी नए मानव-मूल्यों को ही अंगीकार करना अपेक्षित है।

मैकडूगल ने स्पष्ट लिखा है कि व्यक्तित्व का संगठन-प्रज्ञा (Intellect) और चरित्र का संगठन है। लेकिन बहुधा यह देखने को मिलता है कि विरोधी प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ एकता में आबद्ध नहीं हो पातीं, और इस प्रकार संगठित व्यक्तित्व के विघटन एवं विच्छेद (Dissociation) का कारण बन बैठती हैं। (विच्छेद शब्द का प्रयोग मैंने चेतना की मूलवर्ती धारा के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर कभी गति के साथ और कभी 'गति के विरोध में बहने वाली उपचेतना परक धाराओं के लिए किया है)। व्यक्तित्व के विघटन एवं विच्छेद के वैसे तो अनेक रूप हैं पर मूल रूप से वे सांवेदनिक (संवेदनशून्यता) विचारात्मक (विभ्रम) या गत्यात्मक (स्वगति Automatism) ही होते हैं।

वस्तुत: सांवेदनिक, विचारात्मक एवं गत्यात्मक विच्छेद के कारण जब कभी कोई व्यक्ति परम्परागत प्राप्त नैतिक मान्यताओं (सुपरइगो) का अपने 'इगो' पक्ष के साथ सामंजस्य करने में असमर्थ होता है, उसी समय उसका व्यक्तित्व खण्डित हो उठता है। उसके व्यक्तित्व का 'सुपर-इगो' जब किसी विषय पर एक प्रकार के सिद्धान्त एवं मानव मूल्यों का निर्देश करता है, उस समय तत्कालीन सामाजिक अवस्थाओं एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों के अनुरूप 'इगो' पक्ष और ही प्रकार के मूल्यों के निर्माण के लिए छटपटाता पाया जाता है। इस प्रकार स्वयं व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ, दो विभिन्न धाराओं में विभाजित होकर एक दूसरे का खण्डन करती देखी जाती हैं। अत: अखंडित व्यक्तित्व के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि व्यक्ति अपने 'इगो' के ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक पक्ष द्वारा प्राप्त विचारानुभूति के आधार पर परम्परा से प्राप्त 'सुपर-इगो' द्वारा निर्धारित नैतिक मानव-मूल्यों का, सचेत होकर निरन्तर परिवर्तन-परिष्कार करता रहे, कम से कम इस दिशा में प्रवत्त तो अवश्य रहे।

इस सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर हम देखते हैं कि जुङ्ग के अनुसार जब साहित्यकार को अपने सृष्टा एवं द्रष्टा पक्ष में समरूपता रखना अपेक्षित है उस समय फ्रायड के अनुसार उसके लिए स्वयं द्रष्टा-पक्ष की विभिन्न चेतना-धाराओं में भी एकत्व (unity) स्थापित रखना नितान्त आवश्यक है।

साहित्य के अध्ययन के लिए साहित्यकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण व्यक्ति के रूप में नहीं अपितु साहित्यकार के रूप में करना अपेक्षित है। साहित्यकार जनसाधारण से कुछ 'विशिष्ट' होता है और उसकी यह विशिष्ठता उसके व्यक्तित्व में कुछ ऐसे तत्वों की मुखापेक्षी होती है जो अन्य मनुष्यों से उसे अलग कर देती है। मैंने पहले निर्देश दिया है कि साहित्यकार का सम्बन्ध पहले अनुभूति-पक्ष से है और बाद में मानव-मूल्यों के निर्माण एवं चिन्तन-अनुशीलन से। अत: किसी साहित्यकार का श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ होने में उसके व्यक्तित्व के सृष्टा पक्ष का जितना हाथ होता है, उस अनुपात में द्रष्टा पक्ष का नहीं रहता। वस्तुत: द्रष्टा पक्ष तो, सृष्टा पक्ष का सहयोगी मात्र बनकर आता है, उसकी अपने में कोई स्वतन्त्र-सत्ता साहित्य के क्षेत्र में नहीं होती। वह द्रष्टा पक्ष का उपयोग तो अवश्य करता है पर उसका यह पक्ष, सृष्टा-पक्ष द्वारा प्राप्त अनुभूति एवं संवेदना को पूरी तरह समझने के लिए प्रयुक्त होता है। एक तरफ वह पीड़ा को गहराई से देखने की अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है तो दूसरी ओर उसको आकाश का विस्तार भी देता है। पर साहित्य का

(शेष पृष्ठ ४२ पर)

भारतेन्दु-युग का प्रतिनिधि मासिक "भारतेन्दु"

डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी

भारतेन्दु युग अपनी जिन्दादिली के लिये प्रसिद्ध था। इस युग में कई प्रसिद्ध मासिकपत्र निकले जिसमें "भारतेन्दु" भी उल्लेखनीय है। भारतेन्दु युग के प्रमुख साहित्यकार श्री राधाचरण गोस्वामी ने इसे वृन्दावन से निकाला था। इसका प्रथम अंक अप्रैल सन् १८८३ में निकला था। यह पंडित रामनरायण के द्वारा 'मथुरा प्रेस' में छापा जाता था। इसका वार्षिक मूल्य डाक व्यय सहित सवा रुपया था। प्रति अंक में १६ पृष्ठ होते थे। पं० राधाचरण गोस्वामी इसके सम्पादक थे। इसके मुखपृष्ठ पर 'कार्य्यंवां साधयेयं शरीरं वा पातयेयं' प्रकाशित होता था।

इसमें पुराने कवियों की कविता, धारावाहिक उपन्यास, राजनैतिक टिप्पणियाँ, नाटक, हास्य निबन्ध, हास्य कविता, तथा स्थानीय समाचार प्रकाशित होते थे। एक अंक की 'विषय-सूची' से पत्र की नीति अधिक स्पष्ट हो जायगी :—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
भारतवर्ष के उत्साही वीर
पाश्चिमोत्तर और अवध में आत्मशासन
लेजिस्लेटिव कौन्सिल में पश्चिमोत्तर की ओर से प्रतिनिधि
सर्वनाश (उपन्यास)
कविवर श्री दयानिधि की कविता
कृष्णकुमारी (नाटिका)
कलियुग राज का सक्यूलटर[१]

पं० प्रतापनारायण मिश्र भी पाठकों के चन्दा न देने से दुःखी रहा करते थे। पं० राधाचरण गोस्वामी भी अपने पत्र में चन्दे का तकाजा कितने मनोरंजक ढंग से करते थे यह स्पष्ट है :—

"इस हाथ दे उस हाथ ले"

यह पत्र बिना दरख्वास्त भी इस बार रसिक लोगों के निकट भेजा है यदि उन्हें यह होनहार जान पड़े तो आँख मीच कर कड़ा जी करके सवा रुपया मनीआर्डर या टिकट के द्वारा हमें भेजदें नहीं तो दूसरा अंक न भेजा जायगा कारण अखबार की उधार कठिन से पटती है अतएव इस हाथ दे उस हाथ ले।[२]

इस पत्र में तत्कालीन राजनैतिक घटनाओं पर व्यंगात्मक टिप्पणियाँ एवं कवितायें प्रकाशित होती थीं।

"नौरिस" द्वारा सुरेन्द्रनाथ को कारावास का दंड देने पर यह "पैरोडी" श्री राधाचरण गोस्वामी ने लिखी थी :—

आज हरि हाईकोर्ट सिधारे
पुरी द्वारिका मध्य सुधर्मा सभा मनों पग धारे
परम भक्त साहब नोटिस कौं निज कर दर्शन दीनों
बहुत दिनन कौ ताप आपने पाप सहित हरि लीनों
आवत समैं सुरेन्द्र नाथ कों कारागार पठायो
दीन दयाल नाम को सत्वहि साँचों कर दरसायो
को कहि सकै विचार विवेचन यह मूरख मन भोरो
सूरदास जसुदा को नन्दन कछु करै सो थोरो।[३]

गोस्वामी जी अंगरेजी शासकों को खरी खरी सुनाते थे साथ में भारतवासियों के आलस्य प्रेम को भी धिक्कारते थे। हिन्दुओं में देवता सोते हैं, गोस्वामी जी ने इसी अवसर पर 'देव शयन' शीर्षक से एक टिप्पणी लिखी थी :—

"तो बतलाइये, आपको कैसे सोने दें? करुणा वरुणालय। इतना ही नहीं, सिविलमिलिटरी गजट नोन

---

१ भारतेन्दु २० मई १८८३—पुस्तक १ अंक १ मुख पृष्ठ

२ "भारतेन्दु २० जून कवर का अन्तिम पृष्ठ

३ भारतेन्दु २० जून पृष्ठ ४४

सत्तू घोलकर महाराज काश्मीर के पीछे पड़ा है जयपुर के महाराज काठ की पुतली बन रहे हैं और राजे महाराजे कर्ज से तवाह। फर्ज से बेपरवाह। मर्ज से घिरे, गर्ज से घिरे। शतरंज के मोहरे प्याद किश्त मात हो रहे हैं। रही ब्रिटिश इण्डिया सो उसमें भी संवत चालीस के अकाल की आमद है। बाप पेटे में अदालत। मियां बीबी में अदालत। बात बात में टैक्स। हजारों निरपराध गायों के गले पर रोज छुरी चलती। नौरिस सदृश हाकिमों के अत्याचार से प्रजा की नाक में दम। तिस पर भी आज कल हिन्दुस्तानी और अंगरेजों में 'इलवर्ट बिल' पर बाजी लड़ रही है। एक तरफ में तन मन धन लगाकर कमर संधि उद्योगशाली अंग्रेज बहादुर इसकी और 'हाथ पांव के आलसी मुंह में मूंछें मूंहे जांय" ढीली कमर हिन्दुस्तानी। बीच में अचल साहब रिपन। बस इसका फैसला आपके हाथ था! सो आप पहले ही ऐंग्लो इंडियनों के डर से किनारा करते हैं तो फिर आप क्यों अकेले सोते हैं सारा भारतवर्ष आपके साथ सोने को तैयार है।[1]

भारतेन्दु में अधिकतर नाटक, उपन्यास, लेख एवं कविता समाज सुधार के उद्देश्य से प्रकाशित होते थे। पुजारी और पंडों की धर्म के नाम पर अंधेरगिर्दी, विधवाओं के साथ अत्याचार इत्यादि। हास्य और व्यंग का पुट प्रत्येक रचना में रहता था। हास्य लिखने का माध्यम 'स्तोत्र" भी थे। 'रेलवे स्तोत्र' का कुछ अंश देखिये।

'हे गरुण सहोदरे। तुम भगवान की मन से भी अधिक गमन करने वाली गमन शक्ति हो, और अति सत्वर गामी काल की भी काकी हो, अतएव तुम्हें कोटि कोटि साष्टांग।

हे धूम वाहिनी। तुम्हारे विषय अग्नि साक्षात रूप में वरुण जल रूप में चन्द्रमा लालटेन रूप से, यमराज गार्ड, रूप से, यमदूत चपरासी रूप से और भगवान सदाशिव मृत्यु को साथ लेकर गाड़ी लड़ने के समय काल रूप से निवास करते हैं, अतएव हे सर्वदेवानां प्रिये। हे सर्वतो भद्र चक्रे। तुम स्वर्ग, बैकुंठ, कैलाश, नर्क सब की आधार हो।"[1]

गोस्वामी जी के समय हिन्दी उपेक्षित थी। भारतेन्दु के प्रत्येश अङ्क में हिंदी के प्रचार के लिए कुछ न कुछ अवश्य लिखा जाता था। निम्नलिखित टिप्पणी राधाचरणजी ने वक्रोक्ति-पूर्ण शैली में लिखी थी, इसमें उनका हिन्दी के प्रति अगाध प्रेम दृष्टिगोचर होता है।

"सरकार कचहरियों में हिंदी क्यों नहीं जारी करती। सुना है कि सरकार हिंदी को असभ्य भाषा समझती है। क्यों न हो? जिसमें व्याकरण, काव्य-कोष, न्याय, वेदांत, सांख्य, पातंजल, वेद, उपवेद, पुरान, इतिहास, वैद्यक, ज्योतिष आदि की पुस्तकें एक हज़ार वर्ष से भी प्राचीन हों वह परम असभ्य है। जो हिन्दी आधे से अधिक भारतवर्ष में व्याप्त हो, जिसे दस बारह कोटि मनुष्य बोलते हों वह महान् असभ्य है। वर्तमान रीति के अनुसार भी जिसमें सब विषय के दो तीन हजार ग्रन्थ हों, चालीस से भी अधिक सम्वादपत्र छपते हों, सैकड़ों विद्यार्थी पास होते हों, वह असभ्य चूड़ामणि भाषा है। जिस भाषा में शब्दों का अक्षय भंडार है। जिसमें अनेक राजसियों के और निज गवर्मेन्ट के भी काम होते हैं वह अस्पृश्य अव्यवहार्य और असम्भाष्य है। हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है न? इसकी जो लांछना, गंजना व अवमानना हो वह थोड़ी है। सरकार को हिन्दी पर दया नहीं आई, परमेश्वर को तो सुना है कि दयावान है देखें परमेश्वर की दया कहीं दयानंद के साथ सती तो नहीं हो गई।"[2]

"भारतेन्दु" में कई प्रहसन धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए उनमें 'भंगतरंग', 'कलक्यावतार', 'जौनपुर का काजी' एवं 'सर्वनाश' प्रसिद्ध हैं। स्तोत्रों में 'रेलवे स्तोत्र' उल्लेखनीय है। उन दिनों अंग्रेजों का खुल कर विरोध करना तो दुष्कर था, हास्य और व्यंग्य के माध्यम से उनकी खिल्ली उड़ाई जाती थी।

१ भारतेन्दु २० जून पृष्ठ ४४

१ भारतेन्दु २२ जुलाई पृ० ५०

२ भारतेन्दु १०. मई १८८४ पृष्ठ २०

'श्री मदंग्रेज देव महा महा पुराण' ऐसा ही प्रयोग है। ये कई अंकों में निकला था। इसका अधिकांश भाग गद्य में है बीच-बीच में पद्यांश भी हैं। सूतजी और ऋषियों का वार्तालाप हो रहा है। ऋषियों ने कहा है सूतजी, आपने अंग्रेजों के ऐश्वर्य का वर्णन तो किया अब कुछ माहात्म्य भी वर्णन कीजिये। सूतजी वर्णन करते हैं :—

प्रात नाम अंग्रेज उचारै।
इच्छा भोजन तुरतहि पावै।
जो अंग्रेज मुख दर्शन करै।
विविध पाप ताके हरि हरै।
जो अंग्रेज करहि सम्वादा।
ताके बेगहि मिटहि विषादा।
जो अंग्रेज पद धूली परै।
तुरतहि भवसागर को तरै।
जो अंग्रेज प्रसादहि पावै।
सो वैकुण्ठ धाम को जावै।
जो अंग्रेज को डाली देवै
सो ट्रेजरी की ताली लेवै।
जो अंग्रेज की गाली खाय।
कभी न किसमत खाली जाय।
जो अंग्रेज की लात सहारे।
वाको काल कवहुँ नहि मारे।
जो नर क्रोधाविष्ट, अंग्रेज हाथ मरि जाय
कल्प कल्प शत कल्पलों, स्वर्ग लोक सुख्याय[1]

उक्त प्रकार की वक्रोक्तियाँ लिख कर उस समय के साहित्यिक अपने दिल के फफोले फोड़ते थे। दूसरा कोई चारा नहीं था। 'आलोचना' के क्षेत्र में नैतिकता का स्तर ऊँचा था। आलोचना के लिए आई हुई पुस्तकों के बारे में यह विज्ञप्ति मननीय है :—

'समालोचना के लिए अनेक पत्र पुस्तकें आई हैं जब तक अक्षर अक्षर पढ़ न ली जायेंगी समालोचना नहीं हो सकती। आगामी बार तक प्रकाशकगण क्षमा करें, सम्पादक।[2]

१ भारतेंदु ८ जून १८८४ पृष्ठ ४६
२ भारतेंदु ८ अगस्त १८८४ पृष्ठ ८१

आजकल की तरह केवल विषय सूची पढ़ कर तथा चार पृष्ठ लिखकर आलोचना नहीं लिखी जाती थी। 'चंद मुल्कों की समालोचना' शीर्षक लेख में बंगाल, बम्बई, राजपूताना, पंजाब तथा पश्चिमोत्तर देशों की आलोचना की गई है। 'बम्बई' पर की गई आलोचना देखिये :—

'हर वक्त हालत नई, शहर खूबसूरत कई, देसी तिजारत की मुई, खुलना बाकी है कलई, मरहठें, दाखिनी पारसी की अब हो रही एक मई, बहुत से कारीगर बढ़ई, उत्तराखण्ड रूपी चकवा की चकई, जो करोड़ों बरस से बिछर गई, बस इसकी कथा भी भई।[1]

पं० राधाचरण गोस्वामी की रचनायें ही 'भारतेन्दु' में अधिक मिलती है। इनकी रचनाओं का वर्गीकरण करके यदि पुस्तकों के रूप में ये प्रकाशित की जायँ तो हिन्दी को अनेक नये ग्रन्थों की उपलब्धि हो सकती है। अन्त में 'समाचार-पत्र की विराट रूप से स्तुति' में से कुछ अंश उद्धृत कर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं :—

"हे प्रभो विराट अन्तरयामी नारायण तुम छोड़ कर "कस्मै देवाय हविषा विधेम:" प्रेरित पत्र आपके पाद है उनको आप ठोकरों ठुकराते उनकी जबावदेही आपके जिम्मे नहीं।

जनरव आपकी जंघा है कभी कभी उन पर भी आप चल निकलते हैं। नोटिस आप के नेत्र और इस्तहार आपकी अपांग भंगी है। मोटो आप का मस्तक-आगमी मूल्य आपका आनन्द और पश्चात देय आपका क्लेश है आपका मन आपका अनुग्रह दाम, आफिस आपका मंदिर और प्रेस यन्त्र आप का पिता है। टाइप आपका स्कूल शरीर और कापी सूक्षम शरीर है। देशोपकारं आपका पुत्र और देशोन्नति आपकी कन्या है। पुस्तक प्राप्ति आपकी स्त्री और समालोचना आपकी दासी है। लेखक आपके मित्र और नदिहन्द आपके शत्रु हैं।[2]

१ भारतेंदु नवम्बर १८८४ पृष्ठ १२७
२ भारतेंदु जनवरी १८८५ पृ० १६०

ताशकन्द डायरी

श्री शिवदानसिंह चौहान

१ यात्रा से पहले—

ताशकन्द में अफ्रीकी-एशियाई लेखकों की कान्फ्रेंस को समाप्त हुए करीब आठ महीने हो गये। मैंने ताशकन्द और उसके बाद आर्मीनिया, मास्को, यास्ना पोलियाना, लेनिनग्राद के दौरे से लौटकर इस सम्बन्ध में जानबूझ कर अभी तक नहीं लिखा, क्योंकि मेरा विचार है कि जो घटनाएँ ऐतिहासिक महत्व की होती हैं या जिनका मानव-इतिहास की प्रगति में विशिष्ट योग रहता है, उनके सम्पूर्ण महत्व को समझने के लिए जरूरी है कि तत्काल की उत्तेजनाओं से किंचित हटकर कुछ दूरी से इतिहास के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाय, ताकि पास की छोटी-छोटी आनुषंगिक बातें बड़ी और पृष्ठ-भूमि की बड़ी और युग-विधायनी घटनाएँ छोटी न दिखायी दें, और लोगों को सही परिप्रेक्ष्य में सही धारणाएँ बनाने का अवसर मिले।

ताशकन्द कान्फ्रेन्स ऐतिहासिक महत्व की थी, इस कथन का मतलब निश्चय ही यह भी है कि समय के साथ ताशकन्द कान्फ्रेंस का महत्व बढ़ता ही जायगा, चाहे इस समय, विशेषकर हमारे विचित्र देश में, ताशकन्द कान्फ्रेन्स से लौटे हुए कुछ भारतीय प्रतिनिधियों ने, या जो मुफ्त जाना चाहते थे और नहीं जा सके, या जो न कान्फ्रेन्स में शामिल हुए और न शामिल होने के इच्छुक ही थे, बल्कि जो अर्विल और क्वेस्लर को पढ़कर घर बैठे-बिठाये अपनी मानव-द्रोही कल्पना से सोवियत यूनियन में होनेवाली हर घटना का उल्टा और मनचाहा अर्थ लगाते हैं और जिनकी 'देशभक्ति' और 'राष्ट्रीयता' की भावना 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' का लबादा ओढ़ कर इतनी असंवेदनशील और आस्थाहीन होगई है कि उन्हें अफ्रीकी-एशियाई देशों के गुलाम या नयी आजादी पाये लोगों का किसी भी सम्मेलन में एक साथ जमा होना 'भविष्य' के लिए खतरनाक दीखता है—ऐसे विचित्र और दयनीय 'विचारकों' और 'लेखकों' ने ताशकन्द कान्फ्रेन्स के महत्त्व को झुठलाने के लिए कितने ही बयान क्यों न दिये हों, और हमारे 'फ्री' प्रेस ने, जिसमें उसके मालिकों की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण विश्व की ऐतिहासिक घटनाओं का प्रतिबिम्ब अक्सर विकृत और अष्टावक्रीय हो जाता है, इन लोगों के वक्तव्यों को चाहे जितनी बड़ी सुर्खियाँ देकर ही क्यों न छापा हो। आखिर सत्य को कब तक झुठलाया जा सकेगा ?

और फिर ताशकन्द कान्फ्रेन्स पहली नहीं थी और न अन्तिम ही थी। ताशकन्द से दो साल पहले दिल्ली में ही पहला एशियाई लेखक सम्मेलन हुआ था, और अगले साल कैरो में पुन: अफ्रीकी-एशियाई लेखक सम्मेलन होगा। उसके दो साल बाद फिर कहीं—कौन जाने जकार्ता, पीकिंग, रंगून, कोलम्बो, हनोई, सिंगापुर वा ऐकरा में—अफ्रीकी-एशियाई लेखक सम्मेलन होगा और इस तरह यह सिलसिला चलता ही जायगा—हर देश के कुछ निन्दकों और साम्राज्यवादियों के स्वर में स्वर मिलाकर इन ऐतिहासिक सम्मेलनों को व्यर्थ, खतरनाक या सोवियत के सांस्कृतिक आक्रमण (?) का अड्डा घोषित करने वालों की चेतावनियों के बावजूद। इतना ही नहीं, इन सम्मेलनों के बीच की अवधि में एक देश के लेखक दूसरे अफ्रीकी-एशियाई देशों में भ्रमण करेंगे, एक दूसरे से संपर्क बढ़ायेंगे, एक दूसरे के इतिहास, संस्कृति और साहित्य का अध्ययन करेंगे, एक-दूसरे के साहित्यों की महान कृतियों का अपनी अपनी भाषाओं में अनुवाद करेंगे और इस प्रकार एक विशालतर अफ्रीकी-एशियाई या कहें कि एक सम्मिलित पूर्वात्य सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा के विकास में योग

देंगे—जिस तरह योरपीय देशों के विद्वान और लेखक ढाई हजार साल से पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति की एक सामान्य परम्परा का विकास करते आये हैं। साहित्य और संस्कृति की यह नयी, सर्व-सामान्य, पूर्वात्य परम्परा निश्चय ही 'आधुनिक' पाश्चात्य संस्कृति और साहित्य की ह्रासोन्मुखी परम्परा से अधिक मानववादी, प्रगतिशील, मुक्तिकामी और गौरवशाली होगी, क्योंकि उसमें उन मानव-मूल्यों और जीवन लक्ष्यों की अभिव्यक्ति ही प्रबल होगी, जिन्हें इन दो महाद्वीपों के देशों की विशाल जनता की आजाद रहकर या आज़ाद होकर अपनी टूटी-फूटी जिन्दगी को फिर से बनाने और संवारने की दुर्दमनीय भावना ने हमारे साहित्यों तथा अन्य जीवन-व्यापारों का श्रेय और प्रेय बना दिया है। ताशकन्द कान्फ्रेन्स का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा, क्योंकि उसने एशिया और अफ्रीका में बसने वाली जातियों और उनके सांस्कृतिक विकास की ऐतिहासिक गति को अपनी स्वाभाविक और सही दिशा से परिचित कराया है, साथ ही सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उन प्रगतिशील शक्तियों को एक सामान्य मंच पर संगठित भी किया है, जिनके हाथों ही सांस्कृतिक पुनर्निमाण का यह महत् कार्य सम्पन्न हो सकेगा। ताशकन्द कान्फ्रेन्स के ऐतिहासिक महत्व का एक प्रमाण यह भी है कि अमरीकी 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' के तत्वावधान में जो लेखक अपने तात्कालिक लाभ की खातिर एशिया और अफ्रीका की जन-भावना के विरुद्ध समाजवाद-विरोध का सेहरा बांधे फिरते हैं, वे ही इस कान्फ्रेन्स के विरुद्ध सबसे ज्यादा विष-वमन करते रहे हैं—उन्हें डर है और सच्चा डर है कि ताशकन्द कान्फ्रेन्स ने अफ्रीका और एशिया में एक ऐसे प्रगतिशील और साम्राज्य-विरोधी सांस्कृतिक आन्दोलन की नींव डाली है जिसके मजबूत होने पर बुद्धिजीवियों को समाजवाद के विरुद्ध गुमराह करने में उनकी दाल नहीं गलेगी। तभी तो सरकारी (आजकल), सरकारी (इंडियन लिटरेचर प्रकाशक, भारतीय साहित्य अकादमी), गैर-सरकारी किन्तु कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम के अमरीकी डालरों से संचालित (वॉक, क्वेस्ट आदि) तथा भारतीय पूंजीपतियों के समाचार-पत्रों में श्रीधराणी और उनके साथी ताशकन्द कान्फ्रेन्स की हर तरह से निन्दा करके भारतीय जनता को उन महान उद्देश्यों, सामान्य भावनाओं और विचार-तत्वों से अपरिचित रखना चाहते हैं जिन्हें ताशकन्द ने रूप और आकार दिया है। 'आजकल' में श्रीधराणी ने लिखा कि प्रिपेयरेटरी कमेटी में काम करने के लिए जिन दो व्यक्तियों को ताशकन्द भेजा गया था—श्रीगोपाल हाल्दार और संतसिंह सेखों—वे लेखक नहीं केवल राजनीतिक कार्यकर्त्ता हैं। इन महाशय को, जो स्वयं लेखक नहीं, केवल अंग्रेजी के जर्नलिस्ट हैं, सत्य से कितना मोह है! बंगाल और पंजाब के निवासी क्या सोचेंगे, जो गोपाल हाल्दार को या सन्तसिंह सेखों को केवल लेखक ही नहीं बल्कि अपनी अपनी भाषा के 'प्रमुख' लेखक के रूप में जानते हैं, इस बात से श्रीधराणी अविचलित हैं, क्योंकि शायद उनका विचार है कि देश के अन्य चौदह राज्यों में तो पाठक इस वक्तव्य की 'सत्यता' को अज्ञानवश आंख मींच कर स्वीकार कर ही लेंगे और उनका मतलब हल हो जायगा। लेकिन उनके मित्रों को केवल इतने झूठ से ही सन्तोष नहीं हुआ होगा, इस लिए श्रीधराणी ने उससे भी बड़े झूठ की कल्पना की और उसे चलाने के लिये (जिस तरह खोटे सिक्के चलाये जाते हैं) साहित्य अकादमी की प्रतिष्ठा की आड़ ली। 'इंडियन लिटरेचर' में श्रीधराणी के लिखा कि "भारतीय लेखक नामधारी अगर कोई जानवर होता है तो वह ताशकन्द नहीं पहुँच सका!" (शायद सिवाय उनके) इस उदात्त (?) आलंकारिक भाषा के लिए जिसमें 'नई कविता' का पूरा मूर्त्ति-विधान है, आप श्रीधराणी की पीठ ठोंक सकते हैं—आखिर कोरे जर्नलिस्ट की कल्पना अगर उड़ान नहीं भर सकती तो चौपायों की तरह चार टांगों पर कुदान भरने का उपक्रम तो कर ही सकती है, शायद आगे सांपों की तरह पेट के बल रेंगने की भी कल्पना करले, और तब 'इंडियन लिटरेचर' में श्रीध-

राणी लिखेंगे, 'भारतीय लेखक नामधारी अगर कोई रेप्टाइल है तो वह ताशकन्द नहीं पहुँच सका।' खैर, अभी 'जानवर' से ही सन्तोष करें, और केवल मतलब से मतलब रखें।

लेकिन आपको आश्चर्य होगा कि मैं श्रीधराणी से इस बारे में पूर्णत: सहमत हूँ। वे अपने आपको अपवाद मानना चाहते हों, तो मुझे या आपको आपत्ति हो सकती है—इस लिए उनको छोड़कर भारतीय डेलिगेशन के अन्य पच्चीस छब्बीस सदस्यों के बारे में मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि उनमें से कोई भी 'भारतीय लेखक नामधारी जानवर' नहीं था, सभी 'भारतीय लेखक नामधारी पुरुष या स्त्रियाँ' या एक शब्द में कहें तो 'व्यक्ति' ही थे। ताशकन्द कान्फ्रेन्स में ऐसे ही चालीस अफ्रीकी-एशियाई और लगभग बीस योरपीय अमरीकी देशों के प्रतिनिधि और दृष्टा व्यक्तियों ने भाग लिया था, जो यद्यपि सभी लेखक थे, लेकिन 'जानवर' नहीं थे। संभव है कि इसी कारण ताशकन्द कान्फ्रेन्स में क्या कुछ हुआ, यह सब श्रीधराणी की समझ में नहीं आया। दरअसल बात यह है कि लेखक-जानवरों या जानवर-लेखकों की यह नई नस्ल अभी तो अफ्रीका एशिया में आमतौर पर पैदा नहीं होती और अगर हो भी तो इस नस्ल के लेखकों की कान्फ्रेन्स स्योल, मनीला, बेंकाक, सैगाँ, तेहरान या इस्तान्बुल में चाहे हो, लेकिन ताशकन्द में तो नहीं ही हो सकती थी—न एशिया-अफ्रीका के उन सब स्वतन्त्र देशों में ही हो सकेगी, भावी कान्फ्रेन्सों के सिलसिले में जिनकी राजधानियों का जिक्र मैंने पहले किया है। श्रीधराणी को ताशकन्द में 'अकेलापन' महसूस हुआ वहाँ के वातावरण में उनका दम घुटता था। (इसकी शिकायत भी उन्होंने की है), इसके लिए मुझे उनसे पूरी हमदर्दी है। हम सब तो चाहते थे कि अज्ञेय, जैनेन्द्र तथा दो चार ऐसे लेखक भी ताशकन्द जायें, जिन्होंने दो साल पहले एशियाई लेखक सम्मेलन में श्रीधराणी का साथ दिया था। हमारा विचार था कि अफ्रीका और एशिया की जन-भावना से कटे हुए इन लेखकों ने दिल्ली सम्मेलन से अगर कोई सबक नहीं लिया तो संभव है कि शीत-युद्ध के प्रभावों से दूर ताशकन्द के शान्त, स्वस्थ और मैत्रीपूर्ण वातावरण में वे इस भावना की शक्ति को पहचान सकेंगे और शायद उनके हृदयों की बुझी चिनगारियां फिर भड़क उठेंगी और वे एशिया और अफ्रीका की जागरूक, साम्राज्यविरोधी जनता के सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के संघर्ष में सबका साथ देने लगेंगे। लेकिन अज्ञेय को अगर ताशकन्द की साम्यवादी वायु में सांस लेने से भी चिढ़ थी तो जैनेन्द्र जाना चाह कर भी नहीं गये, क्योंकि अन्य प्रतिनिधियों ने अपने पास से अतिरिक्त रकम डालकर उनके लिए टिकट की मुफ्त व्यवस्था नहीं की। इसमें दोष किसका है ? परिणामत: श्रीधराणी ने ताशकन्द में अपने को 'अकेला', सबसे 'अलग' और कटा हुआ पाया।

ताशकन्द कान्फ्रेंस को लेकर बालकृष्ण राव ने 'कल्पना' में भारतीय डेलिगेशन के 'प्रतिनिधित्व' का प्रश्न उठाया है। अनेक कथाएं प्रकट की हैं। ताशकन्द और मास्को में क्या हुआ, इस बारे में अफवाहों के आधार पर कुछ अटकलें भी भिड़ायी हैं और कुछ सुझाव भी रखे हैं कि प्रतिनिधि-मंडलों का चुनाव कैसे होना चाहिए। इन बातों का यशपाल बहुत तर्कसंगत और संयत उत्तर दे चुके हैं। लेकिन फिर भी इस प्रसंग में कुछ कहना जरूरी है। बालकृष्ण राव भारतीय प्रिपेयरेटरी कमेटी की उस मीटिंग में मौजूद थे, जिसमें तीस लेखकों के भारतीय डेलिगेशन का चुनाव करने के लिए साहित्य अकादमी के मंत्री श्री कृपलानी की मदद और उपस्थित लेखकों की सर्व सम्मति से हर भाषा का एक-एक प्रतिनिधि लेकर एक निर्वाचन कमेटी बनायी गयी थी। भारत की सभी प्रमुख भाषाओं के प्रतिनिधि लेने थे, इसलिए हिन्दी के चार या पाँच से अधिक नहीं हो सकते थे। बालकृष्ण राव हिन्दी के केवल पाँच लेखकों की कोई सर्वमान्य सूची तैयार कर सकते हैं, जो सभी विचारधाराओं, प्रवृत्तियों और पीढ़ियों का प्रतिनिधित्व कर सकें और जिसके विरुद्ध किसी को कुछ कहने का साहस न हो ? हिन्दी में चार

पाँचसौ लेखक तो हैं ही, जो व्यक्तिगत रूप से अपने को ही प्रतिनिधित्व का अधिकारी समझ सकते हैं। यदि इन सबकी एक कान्फेन्स की जाती और सभी उपस्थित होते तो क्या वे उस सूची से ज्यादा अच्छी सूची बना सकते जो 'दिनकरजी' ने निर्वाचन कमेटी में पेश की थी? दिनकर जी ने शायद आठ-नौ लेखकों की सूची दी थी जिनमें श्री सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, शिवदानसिंह चौहान, अज्ञेय, बालकृष्ण राव, नागार्जुन और फणीश्वरनाथ 'रेणु' के नाम थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी तरफ से सभी प्रवृत्तियों और विचाराधारा के लेखकों को सम्मिलित किया था—फिर भी प्रश्न उठ सकता है कि यदि हिन्दी लेखकों का कोई बड़ा कन्वेन्शन या सम्मेलन बुलाकर सीक्रेट बैलट से या खुला हाथ उठाकर चुनाव किया जाता तो नौ की सूची में बालकृष्णराव जी कहाँ होते, किस प्रवृत्ति के प्रवक्ता के रूप में, किस साहित्यिक कृतित्व के आधार पर? लेकिन साहित्य में भी दोस्ती और सामाजिक स्थिति का लिहाज चलता है; इसलिए यशपाल और स्वयं अपने को न रखकर 'दिनकर' जी ने बालकृष्णराव का नाम दिया। इस समय तक बालकृष्ण राव को चुनाव के इस ढंग में या इस सूची में कोई अवैधानिक बात नहीं नजर आयी। इतना ही नहीं, डा० आनन्द के सुझाव पर यह भी निश्चय किया गया कि बालकृष्णराव और सन्तसिंह सेखों को कान्फ्रेन्स की प्रिपेयरेटरी कमेटी के सेक्रेटेरियट में काम करने के लिए एक महीने पहले ही ताशकन्द भेजा जाय। लेकिन जैनेन्द्र की तरह बालकृष्ण राव भी चाहते थे कि पैसों का कोई 'फूल' (निधि) बनाकर—चाहे वह सरकार से प्राप्त हो या लेखकों की जेब से—उन्हें भी मुफ्त भेजा जाय। जब यह नहीं हुआ और डा० आनन्द तथा अन्य लेखक इस बात पर ही दृढ़ रहे कि पंडित नेहरू की इच्छा के अनुसार सब प्रतिनिधियों को अपना किराया खर्च करके ही जाना चाहिए, तो बालकृष्ण राव ने ताशकन्द जाने से इन्कार कर दिया। जैनेन्द्र और राव तो इस तरह व्यक्तिगत कारण (स्वार्थ?) से हटे। इसके अलावा ताराबाबू और डा० आनन्द ने मीटिंग में बार-बार घोषणा की थी कि ताशकन्द कान्फ्रेन्स के संयोजक मध्य-एशियाई गण-राज्यों में तो सभी प्रतिनिधियों को कान्फ्रेन्स के बाद पन्द्रह दिन घुमायेंगे, लेकिन मास्को नहीं ले जा सकेंगे। मुफ्त सैर करने के इन आकांक्षियों का इस बात से भी उत्साह ठंडा पड़ गया था। 'अज्ञेय' ने जाने के बारे में कोई उत्तर ही नहीं दिया। आचार्य द्विवेदी विश्वविद्यालय की झंझटों में फँसे रहने के कारण नहीं गये। पन्तजी और महादेवीजी शायद पासपोर्ट आदि बनवाने की झंझट में कौन पड़े—यह सोचकर खामोश रहे। समय कम था और हिन्दी के अधिकांश प्रतिनिधि किसी न किसी कारण से नहीं जारहे थे, इसलिए यशपालजी की याद की गई—वे पहले रूस आये थे, शायद इसी कारण दिनकरजी ने उनका नाम पहली सूची में नहीं रखा था, नहीं तो यशपालजी का नाम किसी भी सूची का गौरव हो बढ़ाता है। बालकृष्णराव के साथ फिर भी पक्षपात किया गया था, क्योंकि वे पिछले साल ही सपत्नीक बर्लिन और मास्को हो आये थे—किसने चुना था उन्हें प्रतिनिधि और किस साहित्यिक कृतित्व के आधार पर? भारतीय लेखकों का प्रतिनिधि स्वीकार करते समय क्या उनके अन्तःकरण ने उन्हें उस समय धिक्कारा था? इसलिए बालकृष्ण राव ने प्रतिनिधित्व का जो प्रश्न उठाया है, वह केवल उनका व्यक्तिगत आक्रोश है—'अंगूर खट्टे हैं' की उक्ति को चरितार्थ करता है। जब चौदह भाषाओं के हजारों लेखकों में से, उनकी पीढ़ियों, कृतित्व, प्रवृत्तियों और विचारधाराओं को ध्यान में रखकर केवल तीस प्रतिनिधि ही चुनने का सवाल हो तो निश्चय ही हर फैसले में असंख्य त्रुटियाँ निकाली जा सकती हैं चुनाव की प्रणाली आप चाहे जो बनालें। केन्द्रीय सरकार आये दिन जो कलाकारों, संगीतज्ञों, नर्तकों या लेखकों के डेलिगेशन बाहर भेजती रहती है, क्या उनके बारे में पक्षपात का आरोप नहीं लगाया जाता? इसलिए 'प्रतिनिधित्व' का मानदंड

यह नहीं हो सकता कि हर प्रमुख लेखक या कलाकार को भेजा जाय—यह दुःसाध्य असंभव कार्य है । प्रतिनिधित्व की केवल एक ही कसौटी हो सकती है कि जो भी चुनकर भेजा जाये, वह अपने आचरण और अपने कार्यों से विदेश में जाकर देश के गौरव की रक्षा करे । इस दृष्टि से ऊँच नीच और वर्ग-भेद के बगैर हर भारतीय नागरिक विदेश में भारत का प्रतिनिधित्व करने का अधिकारी है । यह ठीक है कि पन्तजी, महादेवीजी, आचार्य द्विवेदी आदि अगर जाते और अन्य भाषाओं के भी ऐसे ही चोटी के और अधिक लेखक भारतीय डेलिगेशन में होते तो हमारा डेलिगेशन और भी अच्छा होता । लेकिन कुछ यहां के संयोजकों की अव्यवस्था के कारण, कुछ लेखकों की व्यक्तिगत असुविधाओं के कारण तो कुछ समय की कमी के कारण जो डेलिगेशन गया, उससे अच्छा नहीं जा सकता था । फिर भी भारतीय डेलिगेशन में लगभग दस-बारह लेखक साहित्य-अकादमी के सदस्य थे । उनमें डा० सुनीतिकुमार चटर्जी जैसे भाषाविद, यशपाल, ताराशंकर प्रबोधकुमार सान्याल, डा० आनन्द, राजेन्द्रसिह बेदी जैसे प्रमुख कथाकार, गोपाल हाल्दार, सन्तसिह सेखों जैसे प्रसिद्ध आलोचक आचार्य अत्रे, देश पाण्डे, गुरु बख्श सिह, अनन्त पटनायक, सुभाष मुकर्जी तावां आदि प्रसिद्ध नाटककार, कवि और पत्रकार थे । यदि व्यापक भारतीय (राष्ट्रीय) दृष्टि से देखें तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि भारतीय लेखकों का इतना बड़ा और इतना प्रतिनिधि डेलिगेशन हमारे समूचे इतिहास में कभी किसी अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स में भाग लेने के लिए विदेश नहीं गया है । भारतीय प्रिपेयरेटरी कमेटी इतनी जल्दी में इतना बड़ा और इतना शानदार डेलिगेशन भेज सकी, यह एक अभिनन्दनीय बात है और मेरा विश्वास है कि अगली कान्फ्रेन्सों में भारतीय लेखकों का डेलिगेशन इससे भी अधिक शानदार होगा—बालकृष्णराव की चिन्ताओं के बावजूद ।

ताशकंद डायरी शुरू करने से पहले इन अप्रिय तथा तुच्छ प्रसंगों का जिक्र जरूरी था, क्योंकि इन असंगत बातों को लेकर ताशकंद कान्फेन्स के वास्तविक कार्य पर कीचड़ उछालने या पर्दापोशी करने का कुछ लोगों को अवसर मिल गया है । ये महाशय संकीर्ण, आत्मापेक्षी दृष्टिकोण से छिद्रान्वेषण ही करना जानते हैं । अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की सीमा से बाहर निकलकर व्यापक दृष्टि से इतिहास के गतिमान चक्र को समझने-बूझने की मुक्तिदायी चेतना का उन्होंने कभी अनुभव ही नहीं किया । यह 'व्यक्तिवाद' कितना सीमित बनाता है मनुष्य को ?

(क्रमशः)

(पृष्ठ ३४ का शेषांश)

प्राण, उसकी संवेदना एवं अनुभूति है न कि यह विचारक पक्ष !

"स्रष्टा एवं द्रष्टा की इसी मान्य कसौटी पर कसकर आलोचकों ने ताल्सताय, गोगल आदि महान साहित्यकारों की रचनाओं में व्याप्त असंगतियों का स्पष्टीकरण किया है । लेनिन ने ताल्स्ताय के स्रष्टा पक्ष की भूरि भूरि प्रशंसा की, पर जहाँ तक ताल्स्ताय के द्रष्टा पक्ष का प्रश्न था, वह उसकी समझ में हास्यास्पद था ।[1] इसी प्रकार 'गोगल' के द्रष्टा-पक्ष की ओर चर्नीशेव्सकी ने भी संकेत दिया है ।[2] बेलिंसकी ने गोगल के द्रष्टा पक्ष की कमजोरी पर कितना निर्मम प्रहार किया है, वह 'गेगल' को लिखे गये उसके पत्र से भली भांति स्पष्ट हो जाता है ।[3] अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व के पूर्ण एवं अखण्डित रहने के लिए यह अपेक्षित है कि उसके स्रष्टा एवं द्रष्टा पक्ष में सामंजस्य बना रहे, व्यक्तित्व के दोनों पक्षों द्वारा निर्धारित मानव-मूल्यों की एकरूपता कभी खंडित न हो ।

I. As a prophet who would discover new recipes for the salavation of the humanity. Tolstoy is ludicrous"

V. I. Lenin "Tolstoy Mirror of the Russian Revolution."

2. " (Gogol) remained true to the end of his life as an artist, regardless of the fact that as a thinker he was prone to err."

Quoted from 'Lenin & Marxism' p. 63

3. "I believe that it is so because your profound knowlege of Russia is that of the artist, but not of a thinker whose role you have so ineffectually tried to play in your fantastic book."

Belinsky-'Selected Philosophical Work' p. 537.

वे मधुर स्मृतियाँ

श्री शशि पांडे

[स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचना साहित्य में जो व्यंग्य और हास्य की झलक मिलती है, उससे उनके सभी पाठक परिचित हैं। उनकी यह विनोदप्रियता उनके जीवन में कितनी प्रतिफलित हुई थी, इसे 'समालोचक' के पाठक यह लेख पढ़कर जान सकेंगे। हमें विश्वास है कि इस तरह के संस्मरण से शुक्लजी जैसे साहित्यकारों के व्यक्तित्व और साहित्य की हमारी जानकारी बढ़ेगी। इन स्मृतियों की लेखिका उनकी पौत्री हैं। हर्ष की बात है कि उन्होंने अपने पितामह की जीवनी लिखने का बीड़ा भी उठाया है।—सं०]

तब मैं आठ दस वर्ष की बच्ची थी। साहित्य क्या है और साहित्यिक का मूल्य क्या है, मैं नहीं समझती थी। शुक्लजी मेरी दृष्टि में बब्बा के सिवा कुछ भी न थे। परन्तु आज जब उस गूढ़ व्यक्तित्व के स्निग्ध स्नेह भरे रूप की स्मृति ताजी होती है तो सोचती हूँ, क्या उनका वह व्यक्तित्व साहित्यिक पहलू से कम महत्वपूर्ण था?

खेल-कूद से अवकाश पाते ही मैं उनके पास पहुँच जाती और उनके पलंग के आस पास तब तक चक्कर काटती, जब तक उनका ध्यान लेखनी से उठकर मेरी ओर आकृष्ट न होता और वे पूंछते : "क्यों गिलबिल्ली (गिलबिल्ली मेरा नाम उन्हीं ने रक्खा था) क्या हो रहा है?" और तब या तो मुझे भूख लग उठती या उनकी गोदी में बैठने का शौक उमड़ पड़ता। इन्हीं क्षणों में यदि कभी भूल से दादी की कोठरी (जिसमें वे विशेष रूप से खाने पीने की चीजें रक्खा करती थीं) खुली रह जाती तो हम दोनों दादा पोती की पौ बारह रहती। मैं चोरी करके कभी बेसन के लड्डू, तो कभी मूंग के; कभी अचार और कभी जो कुछ मिल जाता ले आती और उनकी रजाई में छुप कर खाती! ऐसे अवसरों पर वे हमेशा वफादारी से पहरेदारी का पार्ट अदा करते और अक्सर चोरी के भाग में हिस्सा भी बँटाते! ऐसे अवसरों पर मुझे उन्होंने कभी निराश न किया होगा, मानों मेरी भूख लगने का कारण वे समझते हों। उनकी यह क्रिया बाल प्रवृत्ति को आलोचक की दृष्टि से देखने की थी अथवा वे सचमुच मेरे साथ बच्चे बन जाते, कहना कठिन है—किन्तु इतना जानती हूँ कि मेरी चोरी में हिस्सा बंटाने का मूल्य भी कभी कभी दुगना देना पड़ता जब कि वे उन निषिद्ध वस्तुओं को खा लेते जो उन्हें श्वास रोग के कारण मना थीं।

चाय उनकी सबसे प्रिय पेय वस्तु थी, और उनका वह बड़ा सा गिलास अभी भी मुझे याद है। जितने दिन मैं बनारस में रहती उनकी चाय पहुँचाने का सहज कार्य मेरा ही था क्योंकि उसमें का प्रायः अधिक भाग मुझे ही मिलता था। मेरी दादी यह जानती थीं कि मैं उनकी चाय में से पीती हूँ इसी से वे पहले ही मुझे थोड़ी चाय देतीं और धमका देतीं कि यदि मैंने बब्बा की चाय में से लेने की कोशिश की तो मार पड़ेगी परन्तु बब्बा की चाय क्या थी मानो अमृत थी। चाय पहुँचा कर मैं वहीं खड़ी ललचाई आँखों से देखती रहती। बब्बा पूंछते, 'क्यों गिलबिल्ली, चाय नहीं पियोगी?' अनखियों से दरवाजे की ओर देखती हुई कहती 'नहीं भौजी ने मना किया है।' (मैं अपनी दादा को भौजी ही पुकारा करती थी)

'तुमने चाय पी है?'

मैं दबी जुबान से कहती 'हां, वह हाँ मानों 'ना' होता था। बब्बा खूब समझते और कहते 'हमारी चाय तो बहुत ज्यादा है गिलबिल्ली थोड़ा सा लोगी' और मैं खुश होकर कटोरी पर कटोरी साफ कर जाती।

सबसे सुन्दर समय होता जब चाय के बाद शुक्ल

जी उर्फ बब्बा अपने छोटे से बाग में बाहर निकलते। मैं उनके साथ छाया की तरह ही लगी रहती—कभी गोदी में और कभी जमीन पर। मुझे उनकी गोदी में चढ़ने का बहुत शौक था पर दादी के डर से न चढ़ पाती क्योंकि वे अक्सर टोक दिया करती थीं, 'इतनी बड़ी हो गई अभी भी गोदी में टंगी रहती है', (उन्हें उनके श्वास के बढ़ जाने का भय रहता) परन्तु बब्बा हमेशा हँसकर कहते 'कहाँ अभी तो दूध के दांत भी नहीं टूटे ?' और गुनगुना उठते—

"छोटी सी गिल बिल्ली है,
सब लड़कों की किल्ली है।
नान खटाई खाती है,
सबको मार भगाती है।"

इसी तरह की छोटी-छोटी सरस कवितायें बच्चों के बारे में वे अक्सर गुनगुना दिया करते थे !

हां, तो मैं कह रही थी फूलों के बारे में, और कहने लगी अपनी कहानी ! उन्हें फूल, पौधों का बहुत शौक था, विशेषकर जंगली-झाड़, करील वृक्षों से। न जाने कहाँ कहाँ से बटोर कर वे उन्हें इकट्ठा करते थे। सबके अलग अलग नाम थे ! घूमते निरखते वे पूरे बगीचे की सैर मुझे करा देते थे—उस समय की हम दोनों की बातचीत भी अनोखी हुआ करती थी 'देखो गिलबिल्ली, गुलाब राजा कुछ उदास मालुम होते हैं।' मैं देखने की कोशिश तो अवश्य ही करती और चट बोल उठती 'हाँ बब्बा, क्यों उदास हे ?"

'अरे, उसे किसी ने पानी नहीं पिलाया है।'

मैं दौड़ पड़ती पानी लाने, कभी लोटे में कभी बाल्टी में—गिरती पड़ती, भींगती हुई, उनके पीछे-पीछे पौधों की (जिनको नौकर सींचना भूल जाते) तृष्णा मिटाती हुई, बातें करती जाती : 'बब्बा उसकी प्यास बुझ गई ?' और वे कहते कि 'हाँ, देखो वह हँस रहा है।' मुझे सचमुच ही वह हंसता दिखाई देता। यह कैसा सुन्दर घरेलू प्रकृति-प्रेम था ? तभी तो वे "कविता वह हाथ उठाये हुये, चलिए कवि वृन्द बुलाती वहाँ" गुनगुना सके थे। आज भी जब मैं पेड़-पौधे, नदी-नाले देखती हूँ तो बब्बा की खोई स्मृति सजग हो उठती है।

बच्चों से उन्हें अद्भुत लगाव था। घर भर के बच्चों के उन्होंने अद्भुत अद्भुत नाम रख दिये थे परन्तु वे नाम इतने चुनकर रक्खे हुये होते थे कि मानों प्रत्येक के स्वभाव के द्योतक हों। गिलबिल्ली, बकरदुल्ली माथा मुन्डा, योकरन्त, लोढ़े आदि आदि। उनकी एक नौकरानी थी जो बहुत लड़ती थी और हमेशा बकझक लगा रखती थी, उससे वे बहुत चिढ़ते थे। उसकी उपाधि ही 'महोख' हो गई थी (महोख चिड़िया बहुत बोलने के लिए प्रसिद्ध है।) मैंने हमेशा उन्हें कुछ न कुछ लिखते ही देखा लेकिन कभी यह कहते न सुना कि शोरगुल क्यों हो रहा है ? उन्हीं के कमरे में बैठकर घर वाले नाना प्रकार की गोष्ठी करते, शोर, हल्ला, झगड़ा, बहस सब उनके ही सिर पर होता रहता। ऐसे अवसरों पर वे या तो अत्यन्त गम्भीरता पूर्वक ऐसा चटकुला छोड़ देते कि लोग अट्टहास कर बैठते या तीन चार घंटे से होती हुई बहस का एक ही वाक्य में निर्णय दे देते।

मुझे अभी तक उस दिन की बात याद है जिसने मेरी दृष्टि में उन्हें बहुत प्रिय बना दिया था। मेरी बहन को पढ़ाने के लिये एक मास्टर आया करते थे—सीधे-सादे, शान्त—पर हम दोनों बहनें उन्हें कुछ समझती ही न थीं। यदि मेरी बहन कोई गणित का सवाल गलत करती और वे कहते 'गलत है, फिर से करो; तो मैं फौरन बोल उठती, 'वाह दुल तो गलत कर ही नहीं सकती।' बहन भी कह उठती, 'हाँ, हाँ, प्रश्न का उत्तर ही गलत छप गया होगा।'

मैं प्रोत्साहित करती, 'बिल्कुल ठीक, अब तो आप ही लगा कर देखिए कि क्या गलती है।'

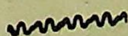
मास्टर साहब बेचारे सवाल लगाते और हम दोनों मुँह में कपड़ा डाले, हंसी को रोकती हुईं उन्हें चोंच दिखाया करतीं।

एक दिन हमारी यह करतूत बब्बा की नजर में पड़ गई। मैं तो डर से सिटपिटा गई (उनसे अधिक डर मुझे माँ का था) दयनीय आँखों से उधर देखा पर

तभी उनकी सफेद मूछें हिलती हुई नजर आईं। भीतर ही भीतर वे हँसकर इस बालसुलभ अन्याय को अनदेखा कर गये। घर में किसी को कुछ मालुम न हुआ, परंतु शायद मास्टर साहब की नाकाबलियत जान गये थे, तभी जब मैं दूसरी छुट्टियों में बनारस गई तो उसकी जगह एक जबरदस्त मास्टर को देखा, जिसने मेरे ऊपर कर्फ्यू आर्डर ही लगा दिया।

जिन दिनों मेरे पिता जी कानपुर में थे, बब्बा भी एक बार वहाँ गये। वह शायद मेरी उनसे आखिरी भेंट थी। नित्य ही साहित्यिकों का जमघट रहता, गोष्ठी बैठती, फूल माला लेकर चरण स्पर्श करने वालों का तांता ही बंधा रहता था। मैं अजीब पशोपेश में थी—उनका यह स्वरूप तो मैंने कभी न देखा था। जहाँ भी वे जाते, मैं अवश्य जाती, लोगों को मेरी नटखट करामातें सुनाकर खूब हंसाते पर साथ ही यह अवश्य कहते जाते कि 'छोटी सी गिलबिल्ली है।' परन्तु उनका इतना आदर सत्कार मुझे थोड़ा-थोड़ा खल भी उठता था क्योंकि उनके आगे मेरे पिताजी का आदर कम हो जाता। अम्मा से पूछती कि बब्बा तो एक दम नये आये हैं कानपुर में फिर उन्हें लोग पिताजी से अधिक कैसे जानते हैं, चरण क्यों छूते हैं, पिताजी के क्यों नहीं छूते? पिताजी तो उनसे पुराने हैं? अम्मा कहती 'वे बहुत बड़े विद्वान् हैं न।' 'विद्वान क्या होता है?' अम्मा इस क्या क्या से झुंझला कर कहतीं कि 'बब्बा से पूँछो जाकर!' जब बब्बा से पूँछती तो वे मूँछों के अन्दर मुस्कुराकर कहते 'जब मुर्दासंख बूढ़ा बनोगी तब जानोगी विद्वान के माने।' मेरे अनेकों नामों में से मुर्दासंख बूढ़ा भी एक उपाधि थी, यह वह तभी कहते जब मैं अपनी उम्र के हिसाब से बड़े बूढ़ों की सी बातें करती थी! परन्तु मुझे यह नाम बिल्कुल पसन्द न था!

स्कूल और कालेज में जब मैं उनके निबन्ध, आलोचनाओं को चाव से पढ़ती और केवल एक गम्भीर, सुगढ़ आलोचक की छाप लेखनी के प्रत्येक वाक्य में पाती तो रह रह कर उनका वही, सरल, मधुर व्यक्तित्त्व याद आ जाता—मैं सोचती 'यदि आज बब्बा होते तो मैं उनसे ही 'मित्रता' (निबन्ध) के अर्थ पूँछती!' उस समय भी वे मुझे यूँ ही 'छोटी सी गिलबिल्ली' कह कर टाल सकते क्या?



ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली

श्री रामनारायण अग्रवाल

एक युग था जब ब्रजभाषा प्राय: संपूर्ण भारत की सांस्कृतिक भाषा थी। वह सारे देश में साहित्य रचना का प्रमुख माध्यम थी और उस पर सभी क्षेत्रों के साहित्यकारों का अधिकार था। हमें तो यह कहने में भी संकोच नहीं है कि ब्रजक्षेत्र से अधिक, ब्रजेत्तर क्षेत्र के साहित्यकारों ने उसका अलंकरण, किया और उनका उस पर ब्रजक्षेत्र की अपेक्षा अधिक अधिकार था। इसीलिये रीति युग में ही श्री भिखारीदास जी ने उद्घोषित किया था कि—

"ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानों,
ऐसे ऐसे कविन की बानी हूँ सों जानिये।"

जब हमारे देश में राजनीति सर्वोपरि न थी और उसने भाषा के विकास के मार्ग में गतिरोध उत्पन्न नहीं किया था तब तक ब्रजभाषा की महत्ता अक्षुण्ण थी। केवल भक्त मुसलमान कवियों ने ही ब्रजभाषा में कविता नहीं की वरन् राजदरबारों में भी उसका मान भारतीय भाषाओं में सर्वोपरि रहा। सम्राट अकबर या उसके युग की चर्चा हम यहाँ नहीं करना चाहते वरन् औरंगजेब जैसे कट्टर बादशाह के समय तक भी ब्रजभाषा का भारत की भावी राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित होना प्रतीत होता है। औरंगजेब के शासन काल में ही उसकी आज्ञा से मिर्जाखाँ ने राजकुमारों की शिक्षा के लिये ब्रजभाषा व्याकरण की रचना की थी। इसका अर्थ यही हो सकता है कि स्वयं औरंगजेब भी यह समझ चुका था कि भारत की एकसूत्रता का प्रतिनिधित्व ब्रजभाषा ही करती है। मिर्जाखाँ ने स्वयं ब्रजभाषा को सब भाषाओं से श्रेष्ठ बतलाया है।[1]

इस प्रकार ब्रजभाषा का मान संमान राजदरबार से जन-साधारण तक मुहम्मदशाह रंगीले के समय तक सुरक्षित रहा, परन्तु प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय चन्द्रवली जी पाण्डेय के अनुसार मुहम्मदशाह 'रंगीला' का रंगीला शासन 'भाषा मणि ब्रजभाषा' के लिये घातक सिद्ध हुआ।"[2]

ऐसा क्यों हुआ इसका कारण स्पष्ट है कि राज्य-सत्ता के रंगीलेपन से उस युग में भी कुछ ऐसे मुल्ला मौलवी जोर पकड़ गये जिन्होंने जन-भावना पर उस भाषा को लादने की चेष्टा की जो जन-मानस की अपेक्षा उनके अपने अधिक अनुकूल थी। यह घटना भी कुछ इसी प्रकार की रही होगी जैसी आज भी देश में अंगरेजी को लेकर चल रही है। जैसे इस समय स्वदेशी भाषा को छोड़कर शासकों में एक विदेशी भाषा के प्रति मोह विद्यमान है, कुछ उसीसे मिलती-जुलती स्थिति उस समय रही होगी, जिसका फल यह हुआ कि इस देश में सर्वसम्मत प्रचलित भाषा ब्रजभाषा की उपेक्षा हुई और रेखता जन्मी तथा उसकी प्रतिद्वन्दता में खड़ीबोली सामने आई, जिससे देश की भाषा समस्या में एक ऐसी उलझन पड़ गई जो कई पीढ़ियों के समाप्त हो जाने पर भी नहीं सुलझ पा रही है। साथ ही इसने उस भाषा की गद्य शैली के विकास का मार्ग भी अवरुद्ध कर दिया जो जन-मानस में बिना किसी प्रकार का मतभेद डाले स्वयंमेव विकसित होने जा

१—ब्रजवासियों की भाषा सभी भाषाओं से श्रेष्ठ है। गंगा और यमुना के बीच में जो देश है, जैसे चंदबार आदि, यह भी श्रेष्ठ गिना जाता है।.... यही भाषा शिष्टों और काव्य की व्यापक भाषा है, इसलिये इसके व्याकरण की रचना की जाती है।

—ए ग्रामर आफ ब्रजभाषा, विश्वभारती १९३५ पृष्ठ ६४

१—देखें सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ पृष्ठ ८८

रही थी।

यहाँ यह भी स्मरण रखने की बात है कि मुल्ला मौलवी लोगों ने जिस नवीन भाषा रेखता को उस युग में जन्म देने की चेष्टा की वह कहीं ऊपर से नहीं टपक पड़ी। वह रेखता भाषा भी जो अब उर्दू के नाम से विख्यात है ब्रजभाषा की ही पुत्री है, इस तथ्य को स्वयं उर्दू वाले स्वीकार करते हैं। उर्दू के अमर अदीब मौलाना आजाद ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'आबे हयात' के प्रारम्भ में ही यह स्वीकार किया है—

"इतनी बात हर शख्स जानता है कि हमारी उर्दू जवान ब्रजभाषा से निकली है और ब्रजभाषा खास हिन्दुस्तानी जवान है।"

यही नहीं आजाद साहब से भी बहुत पहले मद्रास के बाबा बाकर 'आगाह' सन् १७९८ ई० में ही यह कह चुके हैं कि—

"हिन्दुस्तान मुद्दत लग जवान हिन्दी कि उसे ब्रजभाषा बोलते हैं रिवाज रखती थी।....पीछे मुहावरा ब्रज में अल्फाज़ अरबी वो फारसी बतदरीज दाखिल होने लगे और असलूब खास को खोलने लगे। सबब से इस आमेजिश के यह रेखता ज़बान से मुसंमा हुई।"[१]

इस प्रकार ब्रजभाषा के आधार पर कुठाराघात करके पुराने मुल्ला मौलवियों ने जो प्रतिक्रियावादी रूप अपनाया उसने रेखता या उर्दू को जन्म दिया परन्तु कदाचित तब यह घटना राजनैतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझी गई। ब्रजभाषा का उस समय के काफी बाद तक भी पद्य के साथ साथ उस समय के उस गद्य पर जो जनता द्वारा लिखा जा रहा था एक क्षत्र अधिकार रहा, जैसा कि तत्कालीन टीका साहित्य तथा प्राचीन पत्रों से प्रगट होता है।[२] जैसी कि कुछ विद्वानों की धारणा है हम इस मत से सहमत नहीं कि ब्रजभाषा का गद्य टीका-साहित्य में सफल नहीं हुआ, अतः उसे त्याग दिया गया और खड़ी बोली को ही गद्य की भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया। ब्रजभाषा टीका साहित्य का गद्य उक्त बाकर आगाह के रेखता के उद्धरण से कहीं अधिक व्यवस्थित था।

यह ठीक है कि उस युग में हिन्दी का गद्य या कहिये ब्रजभाषा का गद्य कोई सर्वमान्य निश्चित स्वरूप ग्रहण नहीं कर सका था और वह प्रयोगावस्था में था, इसी कारण प्राचीन ग्रन्थों के टीकाकार अपनी टीकाओं में गद्य का जो प्रयोग कर रहे थे वह वास्तव में ब्रजभाषा गद्य के किसी निश्चित रूप या ब्रजभाषा गद्य की अभिव्यक्ति का अक्षमता की प्रतीक न माना जाकर तत्कालीन टीकाकारों के वैयक्तिक भाषा पर अधिकार अनधिकार का ही अधिक प्रतीक है। जिन व्यक्तियों का भाषा पर अच्छा अधिकार था उन्होंने ब्रजभाषा गद्य में साफ और सुथरी टीका की हैं और जिनका भाषा पर अधिकार न था उन्होंने अपनी ऊहा पोह में टीका को मूल से भी जटिल और अव्यवस्थित बनाया है इसमें कोई संदेह नहीं। फिर भी अंगरेजों द्वारा इस देश में भाषा सम्बन्धी कुचक्र का सूत्रपात होने के बाद तक भी ब्रजभाषा ही इस देश की गद्य और पद्य की भाषा बनी रही। हमारे पास वेंकटेश्वर प्रेस से छपी 'गर्ग संहिता' की एक पुरानी टीका है। वह किसकी लिखी है और किस काल में यह टीका की गई यह तो ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रति-जीर्ण शीर्ण और उसके आदि अन्त और बीच बीच के पत्रक भी लुप्त हैं, परन्तु उससे ब्रजभाषा गद्य का एक रूप अवश्य सामने आता है। वृन्दावन खंड के आरम्भ में ही सनंदभोप के वचन टीकाकार ने ब्रज-भाषा गद्य में यों लिखे हैं—

"सनन्द बोले—अब हमकूं तो यहाँते सब परिवार-कूं लेके कोई और स्थान को उठनो चाहिये जहाँ उत्पात कोई न होय ॥५॥ श्रीकृष्ण तेरो बालक प्राणसो

१—मद्रास में उर्दू : इब्राहिमियाँ मशीन प्रेस हैदराबाद; १९३८ पृष्ठ ४६।

२—इस प्रकार के पत्रों के लिये देखिये ब्रजभारती १६ अङ्क १ में स्वर्गीय श्री गंगा प्रसाद कमठान का लेख पृष्ठ २५।

प्यारो है और सब ब्रजवासीन को जीवन है, ब्रज को धन है, कुलको दीपक है, बाललीला करिके सबको मोहन करनवारे हैं ॥६॥ पहलेई तो पूतना आई, फिर शकटासुर गिर्‌यो, फिर तृणावर्त्त उड़ाय ले गयो, फिर यमलार्जुन पैते भगवानने बचायो जाते सिवाय कहा उत्पात आवैगो ॥७॥ [१]

इस प्रकार उर्दू का प्रचलन हो जाने पर ब्रजभाषा का महत्व अंगरेजों की कम्पनी के शासन-काल तक अक्षुण्ण रहा। हाफिज महमूद शेरानी साहब ने यह स्वयं फर्माया है कि 'दीवान जादा' का उदय होने के समय तक भी प्रतिष्ठित मुसलमान तक उर्दू को प्रामाणिक भाषा नहीं मानते थे। इस सम्बन्ध में शेरानी साहब ने धाक वाले खान आरजू का उल्लेख करते हुए कहा है—

"सबसे ज्यादा जिस बात से तआज्जुब होता है यह है कि खानदेहली की जबान[२] और उर्दू को भी वकअत की निगाह से नहीं देखते। उनके नजदीक हिन्दुस्तानी ज़बानों में सबसे ज्यादा शाइस्ता और मुहज़ब ज़बान ग्वालियरी [१] है।"

इस प्रकार ब्रजभाषा को वास्तव में मुसलमानों से कोई विशेष क्षति नहीं पहुँची वरन् उन्होंने तो उसे राज-कीय संमान ही दिया। यही नहीं स्वयं मुसलमान शासकों ने यहाँ तक कि अन्तिम मुगल सम्राट बहादुर-शाह जफर ने भी उर्दू के साथ साथ ब्रजभाषा में भी रचनायें कीं, किन्तु भारत की इस सर्वमान्य भाषा का यह वैभव राजनीति के खिलाड़ी अंगरेजों को सह्य न हुआ और उन्होंने उस पर कुठाराघात करने के लिये एक व्यवस्थित कुटिल षड्‌यन्त्र का सूत्रपात किया जिसका केन्द्र बना कलकत्ते का फोर्ट विलियम कालेज। अंगरेजों ने प्रयत्नपूर्वक रेखता (उर्दू) को उकसाने और भाषा के क्षेत्र में विभाजन की नीति को प्रोत्साहन देने की योजना बनाई थी इसका उल्लेख स्वयं लल्लू लाल जी के कथन से ही हो जाता है जो मानो इस योजना को सफल बनाने के लिये ही फोर्ट विलियम में नौकर रखे गये थे। वे कहते हैं—

"एक दिन साहिब ने कहा कि 'ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो, उसे रखते की बोली में कहो। मैंने क़हा 'बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी लिखने वाला दीजे, तो भली भाँति लिखी जाय।' उन्होंने दो शाइर मेरे तैनाथ किये, मजहर अली खान विला और मिरजा कामज अली जवाँ। एक बरष में चार पोथी का तरजुमा ब्रजभाषा से रेखते की बोली में किया।"[२]

इस प्रकार कूटनीतिज्ञ अँगरेजों ने लगातार १६

---

१ —अनंदउवाच "उत्थात व्यमितोस्मभिः
सर्बैः परिकरैः सह।
गंतव्यंचान्य देशेषु।
यत्रोत्पातान संतिहि ॥
बालस्ते प्राणवत्कृष्णो
जीवनं ब्रजवासिनाम।
ब्रजेधनं कुलदीपो मोहनो
बाललीलया।
हाबक्याशवटेना पितृणा-
वर्तेन बालकः।
मुक्तोयं द्रुम पातेन
ह्युत्पातंकिमतः परम ॥
—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से
प्रकाशित 'गर्ग संहिता' वृंदावन खंड।

२—'देहली की ज़बान' से अभिप्राय यहां खड़ी बोली से है।

१— ग्वालियरी भाषा ब्रजभाषा का ही एक नाम है। जैसा कुछ व्यक्तियों की चेष्टा है ग्वालियरी को ब्रजभाषा से अलग स्वीकार नहीं किया जा सकता वरन् प्रसिद्ध कवि चिंतामणि ने तो ग्वालियरी बोली को और मथुरा मण्डल की बोली को ही टकसाली ब्रजभाषा का रूप स्वीकार किया है—

जो न प्रयोगी सत कविन; भासा कांची जान।
माथुर मंडल ग्वालियर, की परिपक्व बखान ॥

२—लाल चंद्रिका की भूमिका—लल्लू जी लाल।

साल तक इस भोले ब्रजवासी लल्लू जी लाल से उसी की ब्रजभाषा का गला कटवाने का काम लिया। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय श्री चन्द्रवली पाण्डेय जी का कथन है:-

"हम देखते हैं कि ब्रजभाषा जब तक मैदान में रही 'खड़ी बोली' से उसका द्वंद चलता रहा और जब राजाश्रयहीनता के कारण वह पीछे छूट गई तब 'खड़ी बोली' और 'हिन्दुस्तानी' का झगड़ा छिड़ गया। मानो श्री लल्लू जी लाल को इसी तिकड़म के हेतु फोर्ट विलियम कालेज में चाकरी मिली थी। जो हो साहिबों ने आगे चलकर ब्रजभाषा का सर्वथा वहिष्कार कर दिया और धीरे धीरे वह कविता के क्षेत्र से भी ओझल हो गई।"[१]

हम स्वर्गीय पाण्डेय जी के उक्त कथन से पूर्णतः सहमत हैं कि अंगरेजों की कूटनीति ने ब्रजभाषा का नाश किया उसकी अपनी किसी असमर्थता ने नहीं जैसा साहित्य के इतिहास लेखकों ने सिद्ध करने की चेष्टा की है, परन्तु ब्रजभाषा ने खड़ी बोली से कोई प्रतिद्वन्द्वता की, ऐसा सिद्ध नहीं होता। वरन् स्वयं ब्रजभाषा ने तो राजनीति से वैराग्य लेकर मानों अपने हाथों ही अपती अनुजा खड़ीबोली को राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर अभिषिक्त किया, स्वयं लल्लू जी लाल ही इसके साक्षी हैं जो आगरा के ब्रजबासी थे और जिन्होंने साहबों की आज्ञा से ब्रजभाषा को ही अपदस्थ करने में, जाने या अनजाने पूरा सहयोग दिया। उस समय अँगरेजों ने जानबूझकर यह फिजा चलाई थी कि किसी न किसी प्रकार ब्रजभाषा के गद्य के विकास की प्रगति अवरुद्ध हो। इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' की भूमिका में पुस्तक लिखने का जो उद्देश्य खाँ साहब ने व्यक्त किया है वह भी हमारे इसी कथन की पुष्टि करता है।

परन्तु ब्रजभाषा द्वारा खड़ीबोली के लिए स्थान छोड़ देने पर भाषा की समस्या नहीं सुलझी। हालांकि खड़ीबोली और उर्दू दोनों एक ही साथ की थीं, अन्तर उनमें यही था कि उर्दू जैसा उसके नाम से ही स्पष्ट है तब एक बाजारू भाषा थी जबकि खड़ी बोली उस समय कठोर और कर्कश होते हुए भी बाजारी परम्परा से ऊपर एक परम्परागत सांस्कृतिक संस्कार से युक्त थी: सम्भवतः अँगरेज इसीलिए खड़ी बोली को भी स्वीकार न कर सके और वे उर्दू को भी प्रोत्साहन देने में जुटे रहे जिससे देश की अपार हानि हुई और बाद में पाकिस्तान के रूप में देश का विभाजन हुआ। उर्दू के इस प्रोत्साहन से देश का जो तत्कालीन अहित हुआ। उसे गिलकिरिस्त महोदय ने स्वयं यों स्वीकार किया है—

"I very much regret that along with Brij Bhasha the Khuree Bolee was omitted since this particular idiom or style of the Hindostanee would have proved highly useful of the student of that language."[१]

इस प्रकार अँगरेजों की कुचाल से ब्रजभाषा का तो गद्य क्षेत्र से बहिष्कार हो ही गया उसकी कनिष्ठा खड़ी बोली को भी खड़े होने में बड़ा समय लगा। सितारे हिन्द और भारतेन्दु बाबू का संघर्ष इसका प्रमाण है। भारतेन्दु और उनके परिवार के अदम्य उत्साह और सेवा भावना तथा संगठन का ही यह फल है कि खड़ीबोली का रूप निश्चित हुआ और गद्य क्षेत्र में उसका अधिकार अक्षुण हो गया अन्यथा उसके मार्ग को अवरुद्ध करने में साहबों का पूरा हाथ था।

यही नहीं भारतेन्दु युग में खड़ीबोली को काव्य भाषा के रूप में भी प्रोत्साहन मिला और पद्य क्षेत्र में वह ब्रजभाषा की सहयोगिनी बनकर ही अपना रूप निखारने में सचेष्ट रही। उस समय तक खड़ी बोली का काव्य ब्रजभाषा के साथ-साथ जन-मानस की भावना से अपना तादात्म्य बनाये रहा। यदि यही प्रवृत्ति फलने फूलने दी जाती तो यथा समय खड़ीबोली और ब्रजभाषा

१—सेठ कन्हैया लाल पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ पृष्ठ ८५।

1. The Oriental Fabulist 1803 P. 5.

के समन्वय से स्वयं गद्य भाषा के अनुकूल ही हिन्दी काव्य भाषा का भी विकास अवश्यम्भावी था, जो स्वयं हिन्दी के हित में अधिक श्रेयस्कर होता।

परन्तु भारतेन्दु जी के बाद स्थिति बदली। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के हाथ में हिन्दी का नेतृत्व आने पर उन्होंने "गद्य और पद्य की भाषा एक होगी" नारा बुलंद किया और हिन्दी कविता क्षेत्र से भी प्रयत्न पूर्वक ब्रजभाषा के निष्कासन की चेष्टा की गई। इसका फल यह हुआ कि ब्रजभाषा को काव्य क्षेत्र से ओझल होना पड़ा और हिन्दी के काव्य को इससे बड़ी ठेस पहुँची।

आचार्य द्विवेदी जी के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी हम यह कहना चाहते हैं कि यदि खड़ी बोली काव्य जिस प्रकार ब्रजभाषा के सहारे स्वाभाविक रूप से विकसित होने लगा था उसको धैर्य पूर्वक अग्रसर होने दिया जाता और ब्रजभाषा काव्य की परंपरा को भी उचित महत्त्व दिया जाता रहता तो उसका परिणाम हिन्दी के लिए अधिक श्रेयस्कर होता। हमारी अपनी धारणा यह है कि आचार्य द्विवेदीजी का वह गद्य और पद्य की भाषा को एक करने का आन्दोलन हमारे काव्य के विकास में भारी गतिरोध उत्पन्न कर गया और उसके निम्न घातक परिणाम हुए—

१—भारतेन्दु काल तक जनता का काव्य से जो अविछिन्न सम्बन्ध चला आता था जिसके परिणाम स्वरूप भारतेन्दु तथा उनके परिकर के कई व्यक्तियों की कविता उनके जीवन काल में ही जनता की जिभ्या पर लोक प्रिय होकर विराजमान हो गई थी, इस आन्दोलन से उस परंपरा का विकास अवरुद्ध हो गया। द्विवेदी युग ही इसके लिए उत्तरदायी माना जायेगा कि उसने हिन्दी-काव्य के जनता से दूर होने की भूमिका तैयार की। द्विवेदी जी के बाद श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की झाँसी वाली रानी, राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी की 'भारत भारती' जैसी कुछ रचनायें या राष्ट्रीय आन्दोलन के समय लिखी गई श्री नवीनजी आदि की वे इनीगिनी कवितायें ही जैसे—कि 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये।' केवल जनता की जिभ्या तक पहुँची, जबकि भारतेन्दु के सवैया और उनके पूर्ववर्त्ती कवियों की रचनायें प्रायः आपको जनजीवन में आज भी निरक्षर महाचार्यों के मुख तक में किसी न किसी रूप में विराजमान मिल जाती हैं!

२—इस आन्दोलन से हमारे वर्तमान कवियों का रस शास्त्र, छंद शास्त्र, अलंकार शास्त्र, ध्वनिशास्त्र और शृंगार-रस के नायक नायिका भेद की उस परम्परा से एक दम सम्बन्ध विच्छेद हो गया जिनका अध्ययन एक कुशल कवि के विकास और उसकी भाषा के निखार में बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता था। यदि कवियों का इस पुरानी और अत्यन्त वैज्ञानिक आधार पर निमित प्राचीन परम्परा से सम्बन्ध बना रहता तो वे नवीन भावना और भावों का और अधिक विकास तो करते ही साथ ही इससे हिन्दी-कविता में भी अधिक निखार आता। हमारा आज का नीति काव्य भक्तिकालीन गीत परम्परा से एक दम प्रथक हो गया है और आज भी हमारे उत्तर-भारत के समस्त संगीत पर ब्रजभाषा का ही अखंड राज्य है यह स्थिति आज न होती। यह स्थिति केवल इसीलिये है कि इन दोनों नीति-काव्य शैलियों में परम्परागत विकास का जो एक समन्वय सूत्र होना चाहिए था वह दृष्टिगत नहीं हो रहा। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज हिन्दी के प्रेमियों के भी दो भाग हो गये हैं, पुराने साहित्य के भक्तों को नया काव्य व्यर्थ और नीरस लगता है अथवा वह उनकी समझ से बाहर की चीज हो गया है जबकि आज के कवियों की प्राचीन काव्य में कोई आस्था प्रतीत नहीं होती। हमने जो बात कही है उसे यद्यपि सार्वजनिक रूप से कहने का साहस आज अधिकांश व्यक्ति नहीं कर पाते, परन्तु है यह कटु तथ्य। हमें कुछ वर्षों पूर्व तक द्विवेदी युग के प्रमुख कवि सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार के चरणों में बैठकर साहित्य चर्चा सुनने के बहुत अवसर मिले थे। स्वर्गीय पोद्दार जी खड़ीबोली काव्य के निर्माताओं में से थे, परन्तु वे प्रायः कहा करते थे कि

आधुनिक काव्य उनकी समझ से बाहर है। ऐसा क्यों हुआ इसका यदि विश्लेषण किया जाय तो यही कहा जायेगा कि खड़ी बोली को काव्य भाषा बनाने की उतावली के कारण द्विवेदी युग में काव्य में जो इतिवृत्तात्मकता आई वह परवर्त्ती समर्थ कवि हृदयों को अरुचिकर हुई और परम्परागत कविता से सम्बन्ध टूट जाने के कारण वह नवीन कविता एक उन्मुक्त भाव-लोक में बैठ गई जहाँ उसका लोक से स्वभावत: सम्बन्ध विच्छेद हो गया। वहाँ असाधारण भावभूमि पर स्थित कुछ असाधारणों का ही प्रवेश था। या कहिये कि वहाँ वक्ता ही श्रोता बन कर रह गये।

३—इस आन्दोलन का एक भयंकर दुष्परिणाम यह हुआ कि खड़ीबोली का काव्य ही अब हिन्दी का काव्य समझ लिया गया है, जबकि वास्तविकता यह है कि आज भी ब्रजभाषा में स्वान्त सुखाय भाव से प्रचुरमात्रा में कविता लिखी जारही है परन्तु उन कवियों और उनकी प्रतिभा का कोई परिचय हिन्दी-जगत को नहीं है। ब्रजभाषा ही क्यों राजस्थानी और अवधी में भी कुछ अच्छे कवि हैं, परन्तु खड़ीबोली काव्य की गुटबंदी और घटाटोप में उनको कोई महत्व नहीं मिल रहा है। प्राचीन परम्परा का यह काव्य आज प्रोत्साहन के अभाव और अभिव्यक्ति की के अवरोध के कारण मानों घुट रहा है। ब्रजभाषा काव्य के अन्तिम कर्णधारों के रूप में हिन्दी जगत केवल रत्नाकरजी और कविरत्न सत्यनारायण तक को ही जान पाया है परन्तु इसके बाद इस परम्परा में जो प्रचुर मात्रा में काव्य प्रणयन हुआ है उसका हिन्दी जगत में कोई लेखा जोखा नहीं रहा। यही कारण है कि हिन्दी क्षेत्र की उन भाषाओं में जिन्हें राजनैतिक भाषा में आज हिंदी की बोलियाँ कहा जाता है कभी-कभी हिन्दी से प्रथक होकर अपना अनन्य क्षेत्र स्थापित करने की भावना जाग्रत हो उठती है। यदि बलपूर्वक खड़ीबोली को काव्य भाषा न किया गया होता और हिन्दी की पुरानी दोनों काव्य शैलियों पिंगल और डिंगल के साथ-साथ खड़ी बोली की काव्य धारा को भी स्वतन्त्र रूप से प्रवाहित होने दिया जाता तो हिन्दी-काव्य की यह त्रिवेणी स्वयं अपना प्रयागराज खोज लेती जो सबके लिए वंदनीय और मज्जनीय तीर्थ होता। परन्तु खेद है कि उस युग में दूरदर्शिता से इस प्रश्न पर विचार नहीं किया परन्तु दिव्यदृष्टा कविरत्न सत्यनारायण जी को तब भी इस घटना से मार्मिक ठेस पहुँची थी और उन्होंने बड़ी व्यथा भरे हृदय से उस समय यह मार्मिक अपील की थी कि—

"बंग और महाराष्ट्र सुभग गुजरात देस में।
अटक कटक पर्यंत कहिय भारत सुदेस में॥
एक राष्ट्रभाषा की त्रुटि जो पूरत आई।
इतने दिन सों करत रही, तुम्हरी सिवकाई॥
सत समरथ कवियन की कविता प्रमान जामें।
निरखहु नयन उघार कहाँ लग तुम्हहिं गिना में।
इक दिन जो माधुर्य कांतिमय सुखद सुहाई।
मंजु मनोरम मूरति जाकी, जगजिय भाई॥
देखत तुम निहचिंत जात ताके अब प्राना।
अभागिनी सो कातर, कहहु को तासु समाना॥
लिखत रह्यौ इक ओर तासु पढ़िबौं हू त्यागो।
माता सों मुख मोरि कहाँ तुव मन अनुराग्यो॥
सुभ राष्ट्रीय विचारन को जब पुन्य प्रचारा।
कैसो याके संग कियो, तुमनें उपकारा।
रह्यौ बनाबन याहि राष्ट्रभाषा इक ओरी।
उलटौ जासु अनिष्ट कान लागे बरजोरी॥
या जीवन संग्राम माँहि पावत सहाय सब।
नाम लेंन हू तज्यो किन्तु तुम्हनें याको अब॥
क्यों यासों मन फिरयौ, कृपा कर कछुक जताबौ।
वृथा आत्मा या ब्रजभाषा को न सताबौ।
जिनके तुम बस परे अहँहिं ते सकल विमाता।
ब्रजभाषा ही सुद्ध संस्कृत, साँची माता॥"

कैसी अपार वेदना, व्यथा, मनुहार और सत्यता छिपी है कवि की इस मार्मिक अपील में, पर हिन्दी जगत के सत्ताधीशों ने इसे नहीं सुना या सुनकर भी वे बिना विचारे ही ब्रजभाषा को सिसकने के लिये छोड़कर आगे बढ़ गये।

तब ब्रजभाषा एकान्त और सुनसान में पड़ी रह गई। अपने प्रति उसने केवल निष्ठुर हिन्दी-जगत से केवल यह अपील भर की पर किसी प्रकार का कोई प्रतिरोध या गतिरोध उसने खड़ी बोली के मार्ग में कभी उपस्थित नहीं किया, क्योंकि खड़ीबोली ब्रजभाषा की पुत्री अथवा छोटी बहन ही तो है। अतः वह अपने ही लाड़ले रहीम के इस कथन को कैसे झुँठा डालती कि "दया बड़ेन को चाहिए, छोटेन कहँ उतपात।"

द्विवेदी युग के बाद ब्रजभाषा कविता के क्षेत्र में भुला दीगई, परन्तु यह होते हुए भी उसके कुछ अनुरक्त भक्तों से उसका पीछा नहीं छूटा। अपनी सीमित शक्ति और साधनों द्वारा कुछ राज दरबारों में तब भी उसका संमान कुछ नरेशों ने बनाये रखा। ओरछेश महाराज वीरसिंह जू देव ने 'देव पुरस्कार' स्थापित करके ब्रजभाषा काव्य को जीवित और जाग्रत रखने की चेष्टा की। स्वर्गीय हर दयालु सिंह और अनूप शर्मा जैसे कवियों को इसके माध्यम से ब्रजभाषा को जीवित रखने के लिये कुछ सहारा भी मिला। उधर कुछ और राजदरबारों में भी जैसे रीवाँ में ब्रजेश जी अंविकेशजी आदि कवि प्रश्रय प्राप्त करते रहे, परंतु भारतीय स्वतन्त्रता के अन्तिम चरण में इन राज्यों के भारतीय गणत्रत में लय के उपरान्त ब्रजभाषा के सेवकों को जो नाममात्र का सहारा था वह भी टूट गया मानों ब्रजभाषा के पूर्ण बलिदान पर ही हमारे स्वराज्य की नींव रखी जानी थी, परन्तु जिस ब्रजभाषा ने राष्ट्र के हित में इतना बलिदान किया उसकी ओर से राष्ट्र और उसकी राष्ट्रीय-सरकार उदासीन रहे यह घोर परिताप की बात है। यह होने पर भी आज तक ब्रजभाषा काव्य जी रहा है यही ब्रजभाषा की शक्ति और जनता से उसके हृदय के सम्बन्ध का प्रमाण है। जब आज हम ब्रजभाषा साहित्य के जीवित होने की बात कहते हैं तो हम केवल ब्रजभाषा भाषी क्षेत्र की बात नहीं करते जहाँ आज भी ब्रजभाषा के पचासों कवि हैं, वरन् ब्रजेत्तर क्षेत्र में भी अभी ब्रजभाषा के कविगण सर्वत्र और सभी वर्गों में हैं। बस्ती के वयोवृद्ध द्विजेश जी, फरुखावाद के बचनेश जी, कानपुर के सनेही जी, रीवाँ के ब्रजेशजी, इटावा के ललितेश जी झाँसी के नाथूराम माहौर जी आदि के साथ साथ हमारे प्राध्यापक वर्ग में सागर में डा० रसाल० प्रयाग में डा० रामप्रसाद त्रिपाठी तथा माधुरी के पूर्व संपादक श्री रामनारायण पाण्डेय आदि ऐसे अनेक व्यक्तित्व अभी भी हैं, जिन्होंने स्वान्तः सुखाय भाव से ब्रजभाषा में काव्य प्रणयन किया है यदि उन्हें उचित प्रोत्साहन प्राप्त होता तो आज ब्रजभाषा का काव्य सिंहासन कुछ दूसरी ही चमक दमक से देदीप्यमान होता और उसे रत्नाकरों और सत्यनारायणों की कमी न खलती।

इस पीढ़ी में भी ब्रजभाषा के कवि देश में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं जिनमें से शताधिक से तो हम ही व्यक्तिगत रूप से परिचित हैं, परन्तु यदि खोज की जाय तो आज भी गूदड़ी में सेंकड़ों लाल और छिपे मिलेंगे। हमें श्रद्धेय पंडित श्री नारायण जी चतुर्वेदी ने बतलाया था कि एकबार लखीमपुर-खीरी में एक सरकारी दौरे के अवसर पर वहाँ जनता ने उनके सम्मानार्थ एक कवि सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें लगभग ३५ स्थानीय कवि पधारे और चतुर्वेदी जी यह देखकर आश्चर्य चकित रह गये कि वे सबके सब कवि ब्रजभाषा के थे। चतुर्वेदी जी का कहना था कि उनमें अधिकांश 'अच्छा लिखते थे।'

यह होने पर भी आज यदि रत्नाकर और सत्य-नारायण जी के बाद ब्रजभाषा का वैसा प्रतिनिधित्व सामने नहीं आया तो यह स्थिति ब्रजभाषा की असमर्थता की नहीं वरन् उन परिस्थितियों की है जिन्होंने ब्रजभाषा को पर्दे के पीछे डाल रखा है।

आज हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है यह देखकर ब्रजभाषा का प्रसन्न होना स्वाभाविक है, क्योंकि हिन्दी को इस पद पर बैठाने में उसका अपना बहुत बड़ा बलिदान रहा है; परन्तु इसके बदले हिन्दी का भी

यह कर्त्तव्य है कि वह काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा को फलने फूलने का और नवीन परिस्थियों के अनुकूल विकसित होने का अवसर दे, क्योंकि ऐसा करके वह ब्रजभाषा के प्रति कोई उपकार नहीं करेगी, वरन स्वयं अपनी ही जड़ें मजबूत करेगी। कारण कि हिन्दी का अस्तित्व ही ब्रजभाषा के अस्तित्व पर निर्भर है। खड़ीवोली का राष्ट्रभाषा का दावा तभी तक सार्थक और अक्षुण है जब तक कि उसकी पीठ पर सूर तुलसी कबीर, मीरा, रसखान, दास, बिहारी, देव, घनानन्द और भूषण जैसे समर्थ व्यक्तित्व अभय हस्त किये खड़े हैं। इन सब प्राचीन कवियों का वर्त्तमान हिन्दी से संबंध तभी स्थापित रह सकता है जब कि ब्रजभाषा काव्य परंपरा अक्षुण गति से वेगवान रहे और वह जन-मानस से दूर न हो। अन्यथा भविष्य में वर्त्तमान हिन्दी साहित्य का इतिहास कुल १०० साल का ही रह जाने वाला है, क्योंकि—अभी से खड़ी बोलीं के संस्कार में पले बालक को सूरदास के पढ़ने में कठिनाई होने लगी है। जिस पंजाब में कि गुरु तेग बहादुर ने और गुरु गोविंदसिंह जैसे समर्थ कवियों ने ब्रजभाषा में पास रचना करके हिन्दी के भंडार को भरा था वहाँ आज सूर-और तुलसी को समझने में प्रभाकर के विद्यार्थी कष्ट का अनुभव करते हैं। यदि ब्रजभाषा की कविता को प्रोत्साहन नहीं मिला तो यह उलझन आने की पीढ़ियों में और बढ़ेगी। इस प्रकार ब्रजभाषा तो डूब ही रही है परन्तु इससे वर्त्तमान हिन्दी की जड़ें भी खोखली हो जायेंगी। यह गंभीर समस्या है और समय रहते ही इस पर विचार किया जाना चाहिये। आशा है हमारे विद्वान इस दृष्टि से इस समस्या पर विचार करेंगे। कविरत्न सत्यनारायण जी की ये निम्नांकित सत्यपंक्तियां आज भी ब्रजभाषा की मधुरिमा महत्ता और गरिमा की साक्षी हैं—

सुखद वान सुभाय, विविध रसमय अतिउत्तम।
सुद्ध संस्कृति सुखद, आतमद अभिनव अनुपम॥
देसकाल अनुसार, भावनिय व्यक्त करन में।
मंजु मनोहर भाषा, या समकोड न जग में॥
ईश्वर मानव-प्रेम, दोऊ इक संग सिखावति।
उज्ज्वल स्यामलधार, जुगल यों जोरि मिलावति॥
भेदभश्व तजिबे की प्रतिभा जब रस रोंनी।
जोग गहत तिनसों, तब सुन्दर बहत त्रिवेनी॥
करी जाय यदि जासु परीक्षा सविभि पथारथ।
याही में सब जग को स्वारथ अस परमारथ॥

—

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य[1]

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

अभी तक शोधग्रन्थ दो प्रकार के दिखाई पड़े (१) तत्त्वबोधात्मक—जिनमें विचार की प्रधानता है (२) तथ्य-शोधात्मक—जिनमें नए तथ्यों की प्राप्ति अथवा पुराने तथ्यों का संशोधन है। यह विभाजन प्रधानता को ध्यान में रखकर किया गया है, प्राय: शोधग्रन्थों में इन दोनों का सामंजस्य भी मिल जाता है किन्तु प्रस्तुत शोधग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसे आप उपर्युक्त दो श्रेणियों में से किसी एक में नहीं रख सकते, इसके लिए एक तृतीय श्रेणी बनानी पड़ेगी—भावात्मक शोध-ग्रन्थ ! इस ग्रन्थ को पढ़ने में काव्य और शोध दोनों का एक साथ आनन्द मिलता है !

किन्तु इस तृतीय श्रेणी के ग्रन्थों के सम्बन्ध में "शुद्धशोध" की दृष्टि से यह आपत्ति होगी कि शोध में भावुकता के लिए स्थान नहीं है, शोध एक वैज्ञानिक कार्य है, अत: भावुकता व्यवसायात्मिका बुद्धि के कार्य में बाधक ही होती है, एक सीमा तक इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह आपत्ति अवश्य की जा सकती है।

किन्तु हिन्दी काव्य में प्रेम और सौन्दर्य की शोध पर यह सर्वप्रथम प्रयत्न है, अत: यह स्वयं एक प्रशंसनीय कार्य है। लेखक ने सर्वप्रथम प्रेम और सौन्दर्य के 'स्वरूप' की चर्चा की है। 'स्वरूप' के विषय में अनेक उद्धरण एकत्र करने में अथक श्रम किया गया है किन्तु लेखक प्रारम्भ से ही मानकर चला है कि प्रेम की व्याख्या में 'सच्चिदानन्दवाद' ही समर्थ है, प्रेम एक वृत्ति है जिसका समाज के विकास के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, यह दृष्टि स्वीकृत न होने से प्रेम के विवेचन में धर्म-चर्चा की अधिकता होगई है। लेखक आत्मा, परमात्मा आदि धारणाओं को पहले से ही मानकर चला है अत: प्रेम के स्वरूप के विषय में न तो कोई नवीनता ही मिलती है और न उपलब्ध और उद्धृत सामग्री के साथ न्याय ही हो पाया है क्योंकि ब्रह्मवादियों के उद्धरणों के बीच भौतिकवादियों के भी उद्धरण ओतप्रोत हैं—यद्यपि दोनों दृष्टियों में मूलत: विरोध है। उनमें कौन सी दृष्टि अधिक वैज्ञानिक है और क्यों, यह भी पता नहीं चलता। फिर भी लेखक ने 'प्रेम' के विभाजन में व्यापक दृष्टिकोण से काम लिया है और सभी प्रकार के प्रेमभाव—स्नेह, भक्ति, विश्वप्रेम आदि को भी प्रेम में शामिल किया है।

सौन्दर्य के स्वरूप-विवेचन में विषयगत और विषयीगत सौन्दर्य तथा यथार्थ और अध्यात्मवादी दृष्टिकोणों से सम्बन्धित अनेक उद्धारण दिए गए हैं, लेखक ने समन्वय का सहज पथ अपना लिया है। यह मनोरंजक तथ्य है कि समन्वयवादियों में बोसांके और हीगेल को शामिलकर लिया गया है, जो ग़लत है। प्रेम और सौन्दर्य के सम्बन्ध-प्रदर्शन में लेखक की कवित्त्व शक्ति पर पाठक अवश्य मुग्ध होंगे। सारांश यह कि प्रेम और सौन्दर्य के सम्बन्ध में विकास पर ध्यान न देने से इस ग्रन्थ में इनका विश्लेषण संतोषजनक नहीं हो पाया। छात्रों के लिए उद्धरण अवश्य उपयोगी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अधिक उपयोगी भाग वह है जिसमें हिन्दी काव्य में प्रेम व सौन्दर्य के चित्रण पर विचार किया गया है। लेखक ने "रति" को अत्यधिक व्यापक मानकर—सर्व-प्रथम भारतेन्दु युग के मानवप्रेम, नारी, प्रणयभाव, तात्कालिक जनता की दारुणस्थिति

---

(१) डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल 'तरुण'—आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध।

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; मूल्य १२-५० पृष्ठ ५००

प्रकृति आदि के सम्बन्ध में बड़े परिश्रम से उद्धरण एकत्र किए हैं, भारतेन्दुयुग में "देशप्रेम" प्रमुख था और "उसमें नवीनता है, ताज़गी है, प्रफुल्लता है, स्फूर्त्ति है" इस तथ्य को लेखक ने निष्कर्ष के रूप में स्वीकार किया है ।

द्विवेदी युग पर भी लेखक ने बड़ी सहृदयता से विचार किया है । जो यह समझते हैं कि द्विवेदी युग में केवल इतिवृत्तात्मकता ही थी, इस ग्रन्थ का तृतीय प्रकरण उनके लिए शिक्षा-प्रद होगा ।

लगभग १५० पृष्ठों में लेखक ने छायावादी काव्य के प्रेम व सौन्दर्य पर विचार किया है, वस्तुत: भारतेन्दु युग व द्विवेदीयुग की चर्चा पृष्ठभूमि के रूप में ही की गई है, लेखक का विवेच्य छायावादी काव्य ही है । लेखक ने बताया है कि "प्रेम और सौन्दर्य की भावना छायावाद की मुख्य देन है छायावादी कवि इस भावना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म धरातलों में उतरे हैं" यह धारणा सही है और उन प्रयोगवादियों के विपरीत है जो छायावाद को केवल "मधुर शब्द जालमात्र" मानते हैं । लेखक ने बताया है कि पिछले सौ वर्षों में छायावादी काव्य ही ऐसा है, जिसकी अभिव्यंजना, मुक्त कल्पना के समावेश के कारण मुख्यत: चित्रात्मक व रागात्मक है (प्रयोगवादी इसे भी शायद ही स्वीकार करें !) । लेखक ने यह भी बताया है कि छायावाद की सबसे बड़ी विशेषता है प्रत्येक वस्तु में रमणीयता का दर्शन ! कुरूपता के शोधक प्रयोगवादियों पर यह कठोर व्यंग्य है !

इसका अर्थ यह नहीं कि लेखक छायावाद की कमजोरियों से वाकिफ़ नहीं है, उसने बताया है कि छायावाद ने प्रेम को 'सीमित' किया है अत: काव्य जीवन की सर्वाङ्गपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं बन सका। दूसरे छायावाद में एक "नींदभरी मोहिनी" और रहस्यमयता की अधिकता है, "पलायन" और "संकोच" भी है । फिर भी छायावाद में "श्री" "शक्ति" और "महिमा" है, यह तथ्य उपयुक्त उदाहरण देकर भली-भाँति पुष्ट किया गया है ।

लेखक ने पाँचवे प्रकरण में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और अन्त में, अन्तश्चेतनावादी काव्य के प्रेम और सौन्दर्य पर भी विचार किया है । 'प्रगति' का अर्थ "लोककल्याण या लोक कल्याण के उद्देश्य से की जाने वाली कोई विशिष्ट क्रिया" किया गया है और 'मार्क्सवाद' को साम्प्रदायिक प्रगतिवाद तथा 'मानवतावाद' को स्वस्थ प्रगतिवाद (पृष्ठ ४४४) कहा गया है । इस उलझन का आधार है, डा० नगेन्द्र का "आधुनिक हिन्दी कविता में मुख्य-प्रवृत्तियाँ" शीर्षक लेख, जिसमें 'प्रगतिवाद' को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है । प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखक इसलिए अधिक मौलिक नहीं है क्यों कि उसकी जानकारी "सैकेंडहैंड" है ।

प्रयोगवाद को प्रगतिवाद का ही अङ्ग माना गया है—(पृष्ठ ४४४) और यह भी कहा गया है कि व्यक्तिवादिता प्रयोगवाद की विशेषता है ! यदि यह लक्षण सही है तब समष्टिवाद के समर्थक प्रगतिवाद का अंग प्रयोगवाद कैसे हो सकता है ? निश्चित रूप से प्रयोगवाद समष्टिवादी दृष्टि के विपरीत एक व्यक्तिवादी प्रतिक्रिया है । लेखक साहित्य में नए प्रयोगों का समर्थक है, इससे सभी सहमत हैं किन्तु नए प्रयोगों के अतिरिक्त प्रयोगवादियों की कल्मषकषायित व्यक्तिवादी विचार-धारा भी प्रचारित की जारही है, जिसके ज़हर को वे नहीं समझ पाते जो झूमते हुए नाग के सौन्दर्य पर मुग्ध हो रहते हैं !

लेखक ने प्रगतिवाद में 'मानवप्रेम', दाम्पत्यप्रेम, शारीरिक सौन्दर्य, प्राकृतिक सौन्दर्य और कलागत सौन्दर्य के भी दर्शन किए हैं, यदि प्रयोगवादी उदाहरणों को अलग कर के भी देखा जाय तो स्वयं लेखक के विवेचन से यह सारांश नहीं निकलता कि सामाजिक क्रान्ति चाहने वाले प्रगतिवादी कवियों में साम्प्रदायिकता ही है । लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि "प्रगतिवाद ने उपेक्षित मानव के प्रति प्रेम और सहानुभूति व्यक्त की, यह उसका गौरवशाली रूप है" (पृष्ठ ४५७) । लेखक के अनुसार प्रगतिवाद की एकांगिता यह है कि

वह केवल किसान व मजदूर वर्ग को ही सहानुभूति का पात्र मात्र मानता है किन्तु श्री तरुण यह भूल जाते हैं कि शोषक वर्गों के प्रति सहानुभूति रखने से उनका प्रिय 'मानवतावाद' स्वयं खंडित हो जाता है—"दुःखी" और 'दारुण' में से, "भारतीय संस्कृति" हमें दुःखी जन की ओर ही रहने की प्रेरणा देती है, तब एकांगिता का दोष क्यों ? "शुनि चैव श्वपाके च पंडिता समदर्शिन:" की पुकार लगाने वाली वाणी व्यवहार में अन्याय का समर्थन करे, यह कैसा मानवतावाद है ?

श्री सुमित्रानन्दन पन्त की तरह श्री 'तरुण' भी अरविन्दवादी हैं, अरविन्दवाद वैज्ञानिक भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का अवैज्ञानिक मिश्रण है, वैज्ञानिक भौतिकवाद के विरुद्ध अनेक षडयन्त्रों में आज दो षडयन्त्र प्रमुख हैं (१) प्रयोगवाद (२) अरविन्दवाद। श्री तरुण जैसे अनेक 'तरुण' इन भ्रांतियों के शिकार हो रहे हैं, जो समझते हैं कि पन्त जी का अरविन्दवाद हिन्दी में कारगर नहीं हुआ, वह इस शोध-ग्रन्थ को पढ़ें। जब "द्वन्द्वात्मक" दृष्टि के विवेचक भी पन्तवाद का समर्थन करते हैं तब इसका परिणाम यह होता है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद को पाठक अपूर्ण और एकांगी समझ बैठते हैं।

श्री तरुण प्रबन्ध के निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि छायावादी काव्य की वस्तु सम्बन्धी अन्तर्मुखता और प्रगतिवादी, प्रयोगवादी बहिर्मुखता दोनों ही एकांगी हैं इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न पंतजी के अन्तश्चेतनावाद में हुआ है !" (पृष्ठ ४७२)

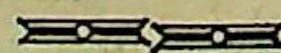
इस प्रकार के मधुर तर्कों और मनोहर उच्छ्वासों के साथ यह शोधग्रन्थ समाप्त होता है। अन्त में कविता और चित्र तथा कविता और संगीत के विषय में भी चर्चा है। अनुक्रमणिका के अतिरिक्त "सौन्दर्य का क्षेत्र-विस्तार" शीर्षक एक विराट चित्र भी दिया गया है।

प्रस्तुत शोध का महत्त्व जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, प्रेम व सौन्दर्य के तात्त्विक विवेचन और निभ्रान्त निर्णयों की दृष्टि से उतना नहीं, जितना छायावाद, काव्य में प्राप्त प्रेम और सौन्दर्य की चर्चा की दृष्टि से है। हम लेखक के श्रम के लिए उसे बधाई देते हैं।

"कोई कुछ कह गया" (उपन्यास)
ले०—कमल शुक्ल
प्रका०—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
मूल्य—२)
पृष्ठ—१२८

दिवाकर एक मध्यवर्गीय युवक, उसकी पत्नी बच्चे किन्तु भयंकर बेकारी—बेकारी और स्वाभिमान के द्वन्द्व को इस उपन्यास में खूब दिखाया गया है। एक अन्य मध्यवर्गीय युवक जो दिवाकर का बहनोई बनता है गैर कानूनी कमाई करता है। अपनी पत्नी कमला के त्याग से सम्हँलता है किन्तु साथी उसे सम्हलने नहीं देते अन्त में बेकारी के शिकार ये दो परिवार 'हाथ-करघा उद्योग' से अपना भरण पोषण करने लगते हैं किन्तु इस निर्णय तक पहुँचने के लिए 'कमला' को अपने प्राणों की बलि देनी पड़ती है। इस उपन्यास को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि यह घरेलू उद्योग धन्धों से सम्बन्धित हलका प्रचार है।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय



पुस्तक-समीक्षा

आलोचना

वृन्दावन लाल वर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व[1]

पुस्तक के नामानुसार उसमें वर्मा जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय है। शुरू के १९ पृष्ठों में वर्मा जी के जीवन की रूपरेखा पुस्तक का सर्वश्रेष्ठ अंश है। ऐतिहासिक उपन्यासों के अलावा सामाजिक उपन्यासों, नाटकों और अन्य रचनाओं की भी यथेष्ट चर्चा है। प्रत्येक अध्याय में मूल पुस्तकों की कथावस्तु देने के बाद सामान्य विशेषताओं का उल्लेख है। पुस्तक के अधिकांश पृष्ठों में कथानकों का सारांश ही दिया गया है। कोई वर्मा जी की रचनाएँ पढ़ें बिना ही उनकी चर्चा करना चाहे तो उसे कथावस्तु-सम्बन्धी काफी सामग्री यहाँ सुलभ होगी।

ऐतिहासिक उपन्यासों की विशेषताओं में ऐतिहासिक तथ्यों की पूरी जानकारी, भौगोलिक ज्ञान, बुंदेलखंड के प्रति प्रेम, प्रकृति-वर्णन, साधारण पात्रों की शूरता का चित्रण, आदि तत्वों का उचित उल्लेख है। पुस्तक की कमजोरी यह है कि उपन्यासों और नाटकों पर लिखते हुए आलोचक ने चरित्र-चित्रण और कथाशिल्प की ओर कम ध्यान दिया है। वर्माजी के सभी उपन्यास एक कोटि के नहीं हैं। उनकी सफलता-असफलता के कारणों का विवेचन सन्तोषजनक नहीं हुआ। भाषा-शैली और शिल्प वाले अध्याय में भी शिल्प-चर्चा हल्के ढंग की है। नाटकों के शिल्प की ओर लेखक ने और भी कम ध्यान दिया है।

गढ़कुंडार के बारे में डॉ० कमलेश ने लिखा है कि "खंगारों का पतन उनकी दृष्टि में इसलिए जरूरी था कि वे विलासी शिथिल और क्रूर थे। साथ ही दिल्ली के मुसलमानों और उनके पिछलगुओं के साँठ-गांठ करते थे। वर्माजी ने ऐसी जाति का पतन कराया है—छल से ही सही। कारण उनके ही शब्दों में यह कि बुन्देलखंड की वर्तमान हिन्दू जनता में जो प्राचीन हिन्दुत्व अभी थोड़ा बहुत शेष है उसकी रक्षा का बहुत कुछ श्रेय बुन्देलों को ही है।" इन वाक्यों से वर्माजी के दृष्टिकोण का आंशिक परिचय ही मिलता है।

गढ़कुंडार के परिचय में वर्माजी ने खेतसिंह खंगार के बारे में लिखा है कि "वह ११९२ के बाद स्वतंत्र होगया, और खंगारों के हाथ में जुझौति [बुंदेलखंड] का अधिकांश भाग ८० वर्ष के लगभग रहा। इस बीच में मुसलमानों के कई हमले जुझौति पर हुए, परन्तु किसी भी दीर्घ समय तक के लिये कभी यह प्रदेश मुसलमानों जी अधीनता में नहीं रहा।" इससे इतना तो सिद्ध ही है कि खंगारों ने बुन्देलखंड को सुरक्षित रखा। खंगारपक्ष का तर्क है कि बुन्देले ही मुसलमानों को लाये। वर्माजी ने इसे अस्वीकार करते हुए लिखा है "बेचारे खंगारों का नाम सन् १२८६ के पश्चात जुझौति के सम्बन्ध में बिलकुल नहीं आता। उनका पतन उसके बाद ऐसा घोर और इतना विकट हुआ कि आजकल उनकी गिनती बहुत निम्न श्रेणी में की जाती है। परन्तु इसमें ज़रा भी संदेह नहीं कि एक समय उनके गौरव का था, और उनके नाम की पताका जुझौति के अनेक गढ़ों पर वीरों और सामन्तों के ऊँचे सिरों पर फहराया करती थी। उनके पतन की जिम्मेदारी उनके निज के दोषों पर कम है। उसका दायित्व उस समय के समाज पर अधिक है।" इन वाक्यों से स्पष्ट हो जायगा कि डॉ० कमलेश ने वर्मा जी के दृष्टिकोण को सही-सही प्रस्तुत नहीं किया। डॉ० कमलेश संभवत: खंगारों और बुन्देलों को

१—ले० डा० कमलेश ; सर्वोदय प्रकाशन मंदिर, दिल्ली; मूल्य—चार रुपये।

समान रूप से राजपूत समझते हैं। उन्होंने लिखा है, "बुन्देले न तो खंगारों का भोजन करते हैं और न उनके साथ वे विवाह सम्बन्ध ही स्थापित करते हैं। इस देश के नाश का कारण राजपूतों के अपने को एक-दूसरे से बढ़कर समझने में रहा है।" खंगारों और बुन्देलों का संघर्ष राजपूतों का आपसी संघर्ष नहीं है। बुन्देलखंड के मूल स्वामी खंगार थे जिनसे बुन्देलों ने उनका राज्य छीना था। गढ़कुंडार के परिचय में वर्मा जी ने लिखा है, "कुंडार के खंगार राजाओं की मातहती में अनेक क्षत्रिय सरदार और सामन्त थे।" इसमें भी खंगारों और क्षत्रियों का अन्तर स्पष्ट है।

क्या वर्मा जी के उपन्यासों में मुसलमानों के प्रति कटुता का आभास है? डॉ० कमलेश ने मान लिया है कि है और इसे मानने के बाद वर्मा जी की सफाई में लिखा है, "जो इस देश में आकर और स्वर्गीय सुख भोग कर भी इसे अपना न समझें, प्रत्युत उसकी प्राचीन संस्कृति को जानबूझ कर नष्ट करना चाहें उनके प्रति घृणा के अतिरिक्त और क्या होगा? स्वयं शासक की स्थिति में अत्याचार करने वाले और अंग्रेजों के आने पर जागरियों और नौकरियों के लोभ में बिक जाने वालों को कभी क्षमा नहीं किया जा सकता।" ! यह राष्ट्रीय विचारक और लेखक डॉ० कमलेश की वाणी है! १८५७ में अंग्रेजों के खिलाफ मुस्लिम जनसाधारण के अलावा अनेक मुस्लिम सामन्त भी लड़े थे, इस बात को कमलेश जी भूल गये हैं। वर्मा जी ने अनेक उपन्यासों में हिन्दू-मुस्लिम सामन्तों के अत्याचारों से समस्त प्रजा को पीड़ित होते दिखाया है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने अन्य सभी भारतीय ऐतिहासिक उपन्यासकारों से आगे बढ़ कर हिन्दू सामन्तवाद की कमजोरियों पर भी हमारा ध्यान केन्द्रित किया है। समालोचक के यथार्थवाद विशेपाङ्क में प्रकाशित वर्मा जी का यह मत ध्यान देने योग्य है, "सामन्त चाहे हिन्दू हों चाहें मुसलमान, हैं एक ही थैली के चट्टे-बट्टे। इनके वर्गों में भी भेद हैं। अरब, तुर्क, ईरानी, मुगल, पठान इत्यादि मुसलमान होते हुए भी अपनी अपनी विशेषताएँ रखते हैं और इनके उपवर्ग भी हैं। कहलाते सब मुसलमान हैं। मैंने इन्हें मुसलमान समझ कर नहीं बल्कि जातीय वर्ग विशेष के लक्षणों में युक्त देख समझ कर इनके विषय में लिखा है।"

यहाँ भी डॉ० कमलेश और वर्मा जी के दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है।

पुस्तक लिखने में उन्होंने कुछ जल्दबाजी की है। कुछ धैर्य से लिखते और कथानकों का सारांश कुछ कम देते तो पुस्तक अधिक उपयोगी होती।

—रामविलास शर्मा

कथा-साहित्य

रैन अँधेरी[1]

श्री मन्मथ नाथ गुप्त का भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम (१९२१ से १९२९) को पृष्ठ भूमि में रखकर लिखा हुआ मौलिक उपन्यास है। इस उपन्यास में सन्, तारीख तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा संस्थाओं के वक्तव्य आदि सब प्रामाणिक हैं।

इस उपन्यास को पढ़कर पाठक थोड़ी देर के लिए अपने को बिल्कुल १९२२ और १९३० के असहयोग आन्दोलनों, बम केसों और काकोरी आदि क्रान्तिकारी षड़यन्त्रों के बीच में पाता है, पर वातावरण की यह सफलता स्वयं मन्मथ नाथ गुप्त जैसे लेखकों के लिए, कोई बड़ी बात नहीं है। गुप्त जी से तो यह आशा की जाती है कि वे रैन अंधेरी में किसी ऐसे उदात्त पात्र की सृष्टि करेंगे जो अपनी मिसाल आप ही होंगें, पर इस ओर से निराश ही होना पड़ा है। राजेन्द्र आखिर तक लड़खड़ाता रहा है, न तो उसके चरित्र में कोई विकास ही है और न उपन्यास की कथा के साथ उसकी उपयोगिता ही समझ में आती है, सिवा इसके कि वह श्यामा का प्रेमी रह चुका है। आनन्द कुमार का चरित्र भी बड़ा उलझा हुआ है। एक ग्रन्थ-कीट तत्कालीन

१—लेखक—मन्मथनाथ गुप्त; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, मूल्य—६); पृष्ठ संख्या ३२४

सारी राजनैतिक विचारधाराओं के व्यक्तियों से संबंध बनाए हुए है, सब ओर उसकी समान सहानभूति है। हां, कुणाल का चरित्र अपेक्षाकृत अधिक उभरा है, पर उनका चरित्र भी घटनाओं के बीच खो गया है। अभिताभ, महेन्द्र (यूसुफ) के विषय में भी यही बात है। प्रकाश केवल क्रांतिकारियों के ऊपर हुए अत्याचारों को दिखाने के लिए लाया गया है। लेखक इसे महेन्द्र या अभिताभ के माध्यम से भी दिखा सकता था, और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी यह अधिक उपयुक्त होता।

नारी पात्रों में रूपवती (आनंद कुमार जी की पत्नी) और रमादेवी (श्यामा की माँ) के चरित्र-चित्रण की ओर लेखक का कोई ध्यान ही नहीं गया है। श्यामा और रुक्मणी के चित्रण पर लेखक ने अवश्य कुछ विशेष ध्यान दिया है।

किन्तु रुक्मणी का चरित्र इतना असाधारण है कि वह अस्वाभाविकता की सीमा को छूता है। इस प्रकार सब मिला कर कोई भी ऐसा चरित्र नहीं है कि जो कभी याद रखा जाय।

फिर भी उपन्यास अपने में बड़ा मनोरंजक और रोमांचकारी है। एक बार हाथ में लेने पर पाठक आखिर तक पढ़ेगा ही।

—राजेन्द्र कुशवाहा

कविता

तल्खियाँ[1]

साहिर उर्दू की नई पीढ़ी के कवियों में प्रमुख हैं। उनकी रचनाओं को, कठिन शब्दों का अर्थ देते हुए, प्रकाश पंडित ने हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ बनाया है। साहिर की प्रेम सम्बन्धी और राजनैतिक, दोनों हो तरह की कविताएँ भावपूर्ण हैं। प्रेम संगीत में कुछ उदासी ज्यादा है और राजनैतिक कविताओं में गुस्सा। लेकिन बनावट नहीं है; इल्म की शायरी यह नहीं है।

आधुनिक उर्दू कविता पुरानी दरबारी कविता से कितना आगे बढ़ गई है, उसमें विषय और शैली की कितनी विविधता है, यह समझने के लिए साहिर का यह संग्रह जरूर देखना चाहिए। "मादाम" में तीखा व्यंग्य, १६४६ में होने वाली जहाजियों की बग़ावत पर लिखी हुई कविता में चुनौती का स्वर और "परछाइयाँ" में विश्व-शान्ति कायम रखने के लिये चेतावनी हर पाठक को प्रभावित करेगी। साहिर की शैली के उदाहरण-स्वरूप ये मार्मिक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं :

गुज़श्ता जंग में घर ही जले मगर इस बार,
अजब नहीं कि ये तनहाइयाँ भी जल जायें।
गुज़श्ता जंग में पैकर जले मगर इस बार,
अजब नहीं कि ये परछाइयाँ भी जल जायें।

हां, यह कहना जरूरी है कि ताजमहल बनाने वाले हिन्दुस्तान के कलाकार और कारीगर थे। शहनशाह में इतनी अक्ल न थी कि हम कहें "इक शहनशाह ने दौलत का सहारा लेकर, हम गरीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक।"

शहनशाहियत तो जमुना किनारे दफन हो गई। ताजमहल में जो चीज दमकती है, वह है हिन्दुस्तानी जनता की सौन्दर्य-भावना। दौलत तो बहुतों के पास थी, ताजमहल हिन्दुस्तान के पास ही है।

१—ले० साहिर लुधियानवी; राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली; मू० साढ़े तीन रुपये।

कुछ कविताएँ[2]

जवानी बीत गई। उम्र पचास के करीब पहुँची। जिंदगी का अकेलापन दूर न हुआ। मज़दूरों से सहानुभूति है, नये चीन से मोहब्बत है। लेकिन यह अकेलापन दूर नहीं होता! कवि ने शाम से पूछा। कवि ने शाम को देखा—एक पीली शाम, पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता। कवि से पूछता है—मौन का एकान्त हाथ। कवि का प्रश्न—मौन। उत्तर—मौन। "यह विवशता, मौन में भी है, अथाह।" अकेलापन, पचास के करीब, मगर विवशता, बेचारा कवि, शमशेर बहादुर सिंह! कहता है, "अकेला हूँ आओ!" कोई नहीं आता।

१ ले०-शमशेर बहादुरसिंह, प्र० जगत शंखधर, वाराणसी : मूल्य २-३०

संगीत सुनता है। इस सुनने में क्या दिखाई देता है? "तू मेरी बेबस बाहों पर, सर रख कर, ओह, न रो!" बाहें भी बेबस, रोने वाली भी बेबस! ख्वाब, सपने, बहुत परेशान करते हैं इस उम्र में। भोर का नभ—नील जल में, किसी की गौर झिलमिल देह, जैसे हिल रही हो। "वह सलोना जिस्म," अधखुली अँगड़ाइयाँ, भीनी गंध में बेहोश भौंरा! कवि बेचारा! "कौन सहारा! मेरा कौन सहारा!"

अकेलापन, बेबसी, सपने—बात पुरानी है, फिर भी कविता नयी है; नहीं, नयी कविता है।"कृति"में प्रकाशित सचित्र विज्ञापन के अनुसार "नयी कविता के प्रथम नागरिक हैं" कवि शमशेर। नयी नागरिकता का सबूत यह है कि "सरलता का आकाश था जैसे त्रिलोचन की रचनाएँ। नींद ही इच्छाएँ।" और दिन है मीठी चाय सा (या चा-सा),बातें चुस्की सी, अपनाव मुलायम बाहों सा और भावपक्ष में अभिनव रहस्यवाद की उलटवाँसिया—

आत्मा है भाव :
भाव-दीठ
झुक रही है
अगम अन्तर में
अनगनित सूराख सी करती।

यह है शमशेर की कुछ कविताओं का कुछ परिचय, कुछ आलोचना!

उपन्यास

चन्द्रगुप्त मौर्य[1]

महापद्मनन्द और राक्षस की पराजय, चाणक्य और चन्द्रगुप्त की विजय, कूटनीति, दुरभिसंधि, विषकन्याओं का प्रयोग—यह सब इस उपन्यास की कथावस्तु है। उपन्यास वर्णनात्मक अधिक है, चरित्र-चित्रण में उसी परिमाण में गहराई नहीं है। महापद्मनन्द की हिरण्यगुहा का वर्णन पढ़ कर तिलस्मी उपन्यासों का आनन्द आता है।

अनुवाद सफल हुआ है अर्थात् पढ़ने पर अनुवाद नहीं लगता। एकाध जगह प्रयोग चिन्त्य हैं जैसे "अनझुक शूरमा" आदि। पुस्तक की छपाई सुन्दर है लेकिन मूल्य कुछ अधिक है।

अर्थान्तर[1]

उपन्यास कालेज के लड़के लड़कियों के बारे में है। खूब रोचक है। शुरू में लगता है, हल्के स्तर का रोमान्स होगा। बात ऐसी नहीं है। अर्थ, व्यक्तिगत सम्पत्ति, ऊँचनीच का भेदभाव, सदियों से चले आते हुए और नये अर्जित कुसंस्कार—इन सबने हमारी समाज-व्यवस्था को कितना खोखला कर दिया है, इस सबका चित्रण लेखक ने किया है। वह अर्थ के बदले श्रम का महत्व प्रतिष्ठित करता है। कथानायक निर्मल कहता है, "समाज में एक दुर्भाग्य घुस गया है भीषण रूप से जो अर्थ को व्यर्थ महत्व देता है; श्रम को नही, जो अर्थ का उत्पादक है।" अनेक नये उपन्यासकारों के विपरीत लेखक कथारस भंग नहीं होने देता।

उसका चरित्र-चित्रण उतना समर्थ नहीं है। निर्मल जरूरत से ज्यादा सीधा है जो अपने खर्च के लिये कुछ भी न रख कर सारी संपत्ति अपनी बुआजी को अर्पित कर देता है। उसके प्रतिद्वंदी च्यवन का पतन इतने आकस्मिक ढंग से होता है कि उस पर सहसा विश्वास नहीं होता। नमिता के मनोभावों का चित्रण अपेक्षाकृत अच्छा हुआ है किन्तु कल्पना का चरित्र बहुत कुछ सपाट है। उसकी धार्मिक वृत्ति और निर्मल के सर्वहारापन में सामान्य तत्व कौन सा है, यह स्पष्ट नहीं है। फिर भी नमिता के प्रति निर्मल की प्रथम आसक्ति, कल्पना के प्रति उसका आकर्षण, फिर डोरा से उसका सम्बन्ध और डोरा की हत्या के बाद कल्पना के समर्पण की स्वीकृति—यह सारा व्यापार काफी कौशल से चित्रित किया गया है।

संवादों में चरित्रों के अनुकूल यथेष्ट शैलीगत अन्तर है। फिर भी कहीं-कहीं लगता है कि उपन्यास लेखक कोई शास्त्री जी हैं जो अभी हिन्दी लिखने में चूक जाते

१—मूल ले०—धूमकेतु; अनुवादक—श्यामू संन्यासी; प्र० वोरा एण्ड कंपनी, बंबई; मूल्य ६·००

१—ले०—कन्हैयालाल ओझा; प्र० पृथ्वीनाथ शास्त्री, सुप्रभात प्रकाशन, कलकत्ता; मू० छह रुपए।

हैं। "उसका मानस किसी क्षुब्ध-बुभुक्षित मकर के विक्षत लांगल के कशाघात से आन्दोलित हो उठा था।" "जो परभृत होते हैं, उनके स्वार्थ नाम की कोई पर स्वापहारक भावना नहीं होती।" "निर्मल ने स्नानगृह का द्वार उन्मोचित किया" और "रोरुद्यमान कल्पना ने अपनी मा के पैर पकड़ लिए।" इस तरह के प्रयोग अपवाद रूप ही हैं। कुल मिला कर भाषा सरल और प्रसंगानुकूल है।

मेघदूत[1]

इससे पहले राजस्थानी में मेघदूत का अनुवाद हो चुका है। "निवेदन" में लेखक ने विचार प्रकट किया है कि पहले के अनुवादों में "भावप्रकाशन की दुरूहता दिखाई देती है।" इस अनुवाद में दुरूहता नहीं है—पहले के सभी अनुवादों में थी, यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता। किन्तु इस अनुवाद में कुछ गद्यात्मकता आ गई है। कालिदास की शैली में जो शब्द-लाघव और व्यंजना की सांकेतिकता है, उसका यहाँ अभाव है। एक उदाहरण—

भोजपुरी 'शिप्रा' सरिता के बसी किनारे।
गंध नदी की नगरी में नित फैले सारे।
पूरब में परभात काल को होय उजालो।
निकले रवि जद तोड़ तिमिर को कालो जालो।

उर्दू के लोकप्रिय शायर[2]

सौदा
दर्द
बहादुर शाह ज़फर
हसरत मोहानी
अकबर इलाहाबादी
मख्दूम
अदम

इन पुस्तकों की आलोचना लिखने के पहले ही इन्हें या इनके संगी साथी दूसरे संग्रहों को ऐसे अनेक मित्रों के पास देख चुका हूँ जिनका साहित्य या कविता से कोई सम्बन्ध नहीं है। उर्दू कविता की सरसता और ज़बान की खूबसूरती से आकर्षित होकर इन मित्रों ने अकेलेपन के साथी के तौर पर इन्हें अपनाया था। हिन्दी में उर्दू कवियों की इस लोकप्रियता से पता चलता है कि देवनागरी लिपि में अपनी रचनाएँ पहले प्रकाशित न करके इन कवियों ने कितना घाटा उठाया है।

सौदा में पुरानी उर्दू का रंग देखिये (परिचय लिखा है, सरस्वती सदन 'कैफ' ने), 'दर्द' की करुणा की तुलना मीर के दुख से कीजिये (संपादक—कैफ)। बहादुर शाह जफर का सूफियाना कलाम, ज़बान की सादगी, हिन्दी से मिलती-जुलती शैली पाठकों को आकर्षित किये बिना न रहेंगी (सं०—संसार चंद)। प्रेमी कवि हसरस मोहानी की ग़ज़लें (सं० कैफ) और अकबर इलाहाबादी का व्यंग्य और हास्य (सं० कैफ), नयी पीढ़ी के कवियों में मख्दूम के क्रान्तिकारी तराने (सं० प्रकाश पंडित) और पाकिस्तानी कवि 'अदम' द्वारा हिन्दुस्तानी कवियों की परम्परा का निर्वाह (सं० प्रकाश पंडित) भी आपको रोचक लगेंगे।

हिन्दी-उर्दू के भाषा सम्बन्धी झगड़े से दिलचस्पी रखने वाले अपने से यह सवाल भी कर सकते हैं—अगर इसी तरह हिन्दी कवियों के संकलन उर्दू लिपि में छपें तो क्या वे भी इतने ही लोकप्रिय होंगे?

—रामविलास शर्मा

नाटक

ओथेलो[1]

शेक्सपियर की मूलरचना पढ़ने पर किसी भी भाषा में उसका अनुवाद अच्छा लगेगा, यह कहना कठिन है। इसका यह अर्थ नहीं कि अनुवाद किया ही न जाय। जिन्होंने मूल नहीं पढ़ा, उन्हें इस अनुवाद से शेक्सपियर की नाटक-रचना शक्ति का कुछ

१—अनु० मांगेलाल चतेर्वेदी; भारती निकेतन; मुकुन्दगढ़, मूल्य दो रुपए।

२—प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स; दिल्ली, प्रत्येक का मूल्य डेढ़ रुपया।

१—विलियम शेक्सपियर रचित नाटक का पद्य-गद्यानुवाद; ले० बच्चन; राजपाल एण्ड सन्ज़; दिल्ली; मू० तीन रुपये पचास नये पैसे।

अन्दाज हो जायगा। अनुवाद की भाषा सरल है, कथा समझने में कठिनाई न होगी। लेकिन इससे शेक्सपियर की काव्यप्रतिभा का अनुमान न हो सकेगा। बच्चन जी न तो इयागो के व्यंग्य को प्रतिबिंबित कर सके हैं और न ओथेलो के आवेग और भावों को। ओथेलो अपनी पत्नी के लिये कहता है, "Thou cunning'st pattern of excelling nature", इसका अनुवाद है "छली प्रकृति की महाचातुरी भरी पोटली"। यह अनुवाद सही हो, तो भी मूल के भावात्मक सौंदर्य की झलक नहीं देता वरन् पोटली से हास्यरस का उद्रेक होने का खतरा उत्पन्न कर देता है।

इयागो की एक प्रसिद्ध उक्ति है:

O, beware, my lord, of jealousy;
It is the green-ey'd monster which doth mock
The meat it feeds on : that cuckold lives in bliss
Who certaim of his fate, loves not his wronger"

इत्यादि। इसका अनुवाद इस प्रकार है—
"मेरे मालिक, शुबहे में मत पड़िएगा,
इसे हरी आँखों वाला हैवान समझिए;
जिस पर पलता उसी गिजा को नफरत करता।
वह खाविन्द बड़ा खुशकिस्मत है जो इसको
जान गया है उसकी बीबी उसके लिये वफा से खाली
वह अपनी तकदीर जानता, और बेवफा की
वह भी परवाह न करता"। ये गद्य के टुकड़े हैं, जिनमें भाव की गहराई का पता नहीं है। "शुबहे में मत पड़ियेगा"—मालूम होता है, कोई साधारण बातचीत हो रही है। "हरी आँखों वाला हैवान" हिन्दी में निरर्थक है। Mocks का भाव "नफरत करता" से नहीं प्रकट किया जा सकता। बेवफा बीवी का शौहर Cuckold कहलाता है, उसके लिये "खाविन्द" नाकाफी है। बेवफा बीवी पाने के इसी सौभाग्य की ओर ओथेलो आगे "Forked plague" द्वारा संकेत करता है, बच्चन जी ने उसके लिये "दुर्भाग्य" शब्द लिखकर ही सन्तोष कर लिया है।

एकाध जगह अनुवाद में शेक्सपियर का मूल मूर्तिविधान ही बदल दिया गया है। ओथेलो अपने आवेगों की तुलना Pontis Sea से करता है जिसकी दुर्दमनीय धारा तब तक नहीं थमती जब तक वह प्रोपोरिटक और हेलेस्पौएट से नहीं मिल जाती। बच्चन जी ने Pontic Sea को "पर्वत से जो नदी फूटती" बना दिया है।

नाटक की भूमिका में बच्चन जी ने उन लोगों का उचित विरोध किया है जो दुष्यन्त को स्मिथ बनाकर विदेशी नाटकों को अपनी संस्कृति और भाषा के अनुकूल बनाने की बात करते हैं। इसी न्याय से शेक्सपियर के नाटक में कहीं ठेठ हिन्दुस्तानीपन आ जाय,—तो उसे भी दोष माना जायगा। डेसडिमोना के गीत में "घोर झकोर बहे पुरवैया" पढ़कर लगता है, अनुवादक अपने ही उसूल को भूल गया है।

यह कहना ज्यादती होगी कि बच्चन जी को अनुवाद के छन्द में शेक्सपियर के अनुकूल—लय की विविधता के लिये—कुछ स्वच्छन्दता से काम लेना चाहिये था। लेकिन यह कहना उचित होगा कि व्याकरण और मुहावरों के प्रति उन्हें अधिक सावधानी बरतनी चाहिये थी। "पाना" का पूर्वकालिक रूप पाकर हो सकता है, न कि "पाकरके"—"उसको अपना पति पाकरके परम सुखी है।" जहाँ तक मुझे मालूम है, फर्ज अदा करते हैं, आदाब बजा लाते हैं। बच्चन जी ने लिखा है, "अपना फर्ज आपके आगे बजा सकूँगा।" हम न भूलें, तुम मत भूलना, लेकिन "हम मत भूलें"?

हम किसी पर शक करते हैं या शक रखते हैं?

"जो है उस पर फिदा और शक भी रखता है"? हम किसी से घृणा करते हैं या किसी को घृणा करते हैं?

"मैंभी उसको
घृणा करूँ।"

"उसी गिजा को नफरत करता ।" खयाल को इयागो ख्याल कहता है। शुबहे, कुबूल, कयास, नुक्स, फितूर जैसे शब्द एक ही वाक्य में इस्तेमाल करनेवाला इयागो "ख्याल" कहे तो यह लेखक की ही असावधानी मानी जायगी। इस तरह के दोष थोड़े से प्रयत्न से दूर हो सकते हैं। —रामविलास शर्मा

हिन्दी पाकेट बुक्स, शाहदरा के प्रकाशन

संघर्ष [1]

चेखव की प्रसिद्ध कृति 'डुएल' का यह संघर्ष शीर्षक से यह अनुवाद प्रामाणिक है। इसमें हिन्दी की प्रवृत्ति की कथा की गई है, अंगरेजी के अनुकरण पर वाक्य नहीं बनाए गए हैं। भाषा में प्रवाह व शक्ति है। अभी ऐसे ही अन्य अनुवादों की आवश्यकता है।

छोटी सी बात [2]

राघव का यह मौलिक उन्यास है । इसमें आधुनिक "कल्चर्ड सोसाइटी" का पर्दाफास किया गया है हमारे विचारों—"नवीन अन्धविश्वासों" तथा सभ्यता के "नए बन्धनों" को झकझोर देने की शक्ति इस कृति में अवश्य है। तीखी और काटती हुई शैली-तर्कों के दाँवपेच और प्रहार करती हुई भाषा। किन्तु इस उपन्यास में एक बहुत बड़ी कमी भी है, लगता है कि लेखक की आस्था अब डगमगा रही है, एक संदेहवाद से लेखक पीड़ित है फलतः चारों ओर विघटन और भ्रष्टाचार के भीतर उनके विरोधी और क्रान्तिकारी प्रयत्नों में लेखक निष्ठा नहीं लगा पाता । उपन्यास पत्र शैली में लिखा गया है। एक उच्च सरकारी अफसर की पत्नी सुशीला किस प्रकार अपने चारों ओर के गन्दे वातावरण से संघर्ष करती है, यह इस कृति में बड़ी खूबी से दिखाया गया है । किन्तु यह संघर्ष निश्चित रूप से लेखक के संदेहवाद के कारण प्रभाव डालने में क्षीण हो गया है—व्यक्तिवाद उभरता हुआ दिखाई पड़ता है ।

आभा [1]

उक्त सीरीज़ द्वारा प्रकाशित आ० चतुरसेन शास्त्री का यह नया उपन्यास है। डा० अनिल की पत्नी आभा, एक 'मुन्नी' को जन्मदेकर, पति के मित्र रमेश के साथ विवाह करने के लिए चली जाती है । डा० अनिल स्वीकृति दे देता है। किंतु आभा रमेश के घर जाकर भी उससे पति पत्नी सम्बन्ध कायम नहीं करती और अन्त में पति के पास लौट आती है—समझौता होजाता है, तलाक की नौबत नहीं आती। उपन्यास में 'बहस' अधिक है-आर्यसमाज का उपदेश है, ऊब और खीझ पैदा करने में लेखक को अद्भुत सफलता मिली है।

एक स्वप्न एक सत्य [2]

यज्ञदत्त शर्मा के प्रस्तुत उपन्यास की नायिका 'राजरानी' अपने विगत जीवन की कहानी कहती है कि किस प्रकार उसका विवाह हुआ और पति की मृत्यु हुई, उसके बाद राजरानी की विवाहिता लड़की भी चल बसी। राजरानी अपनी लड़की के सहारे जीवित है और अपने उजड़े जीवन की याद करके रोती है—पता नहीं उक्त सीरीज़ के संचालकों ने क्यों इस उपन्यास को प्रकाशन के लिए चुना। प्रस्तुत उपन्यास में कौशल और सामाजिक समस्याओं की समझ बिलकुल नदारद है।

सँकल्प [3]

हंसराजरहबर के इस उपन्यास में 'सविता' के वैधव्य और जीवन-निर्वाह की कठिनाइयों की कहानी है। सविता एक सरल किंतु कम समझ के एक लड़के से शादी कर लेती है—माता, पिता के रोकने पर भी दुर्भाग्यवश जयदेव की भी मृत्यु हो जाती है किन्तु

१—चेखव के 'डुएल' नामक उपन्यास का अनुवाद; अनुवादक—शिवदानसिंह चौहान, विजय चौहान; प्रकाशक—हिन्दी पाकेट बुक्स प्राइ० लि० शाहदरा, दिल्ली । मूल्य १ रुपया । पृष्ठ १५२ संस्करण प्रथम, १९५९

२—डा० रांगेयराघव पृष्ठ संख्या; १३९

१—आर्य चतुरसेन शास्त्री, पृष्ठ १४०

२—यज्ञदत्त, पृष्ठ ९९

३—हँसराज रहब्बर, पृष्ठ १४३

सविता बहादुरी के साथ अपनी एकमात्र संतान का पालन पोषण करती है और उस पर कुदृष्टि डालने वालों से अपनी इज्जत बचाती है ! अपने पैरों पर खड़ी होने वाली नारी के मार्ग में क्या क्या कठिनाइयां आती हैं, इस पर भी प्रकाश डाला गया है । बावजूद सही सामाजिक दृष्टि के रहबर की यह कृति एक श्रेष्ठ कृति नहीं बन पाई, क्या कारण है कि बावजूद संदेहवाद के रांगेय राघव का उपन्यास मर्मस्पर्शी है ? निश्चित रूप से रहबर में कौशल का अभाव है, इसीलिए कहानी में उत्सुकता रहने पर भी इसका पढ़ना मुश्किल होजाता है ।

सफलता के आठ साधन [1]

प्रस्तुत कृति जेम्स एलन की कृति "एटे पिलर्स आफ प्रास्पैरिटी" का अनुवाद है । समृद्धि का आधार "नैतिकता" को माना गया है और शक्ति मितव्ययिता, सत्यनिष्ठा, सच्चाई आत्मविश्वास, सहानुभूति, क्रम-व्यवस्था तथा निष्पक्षता—ये आठ गुण समृद्धि के आठ स्तम्भ हैं, इन्हें उपशीर्षकों में बाँटकर व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी बातें बताई गई हैं । हमर्सन का एक उद्धरण विचार प्रधान पुस्तकों के लेखकों पर सार्थक दिखाई देता है—"जग कभी परमात्मा इस पृथ्वीतल पर किसी विचारक को अवतरित करता है तो मानवता को सावधान होजाना चाहिए"

ऐसी उपयोगी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद उपयोगी होगा । प्रस्तुत सफल अनुवाद के लिए अनु० बधाई का पात्र है ।

अमरवाणी [2]

'अमरवाणी' संसार के महान् विचारकों के सैकड़ों ग्रन्थों में से चुनी हुई १४०० सूक्तियों का संचय है । 'विभिन्न देशों के संत महात्माओं और विद्वानों की अमर वाणियाँ इस पुस्तक में संग्रहीत हैं । जीवन के कठिन क्षणों में यह मार्ग दर्शन करेंगी और अवकाश के क्षणों में स्वस्थ व ज्ञानवर्द्धक मनोरंजन प्रदान करेंगी ।' यही इसका मुख्य उद्देश्य है ।

गीतांजलि [1]

'गीतांजलि' रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अमर कृति है । प्रस्तुत पॉकेटबुक 'गीतांजलि' का हिन्दी अनुवाद है अनुवादक हैं सत्यकाम विद्यालंकार । रवीन्द्र के गीतों में माधुर्य, प्रवाह एवं सरलता के साथ-साथ उनमें जीवन की प्रेरणा है ! उनके कई गीतों में विश्वात्मा से वियुक्त आत्मा की पुकार है, एकाकार होने की प्रबल आकांक्षा है ।

अनुवादक ने गीतों का यथार्थ अनुवाद करने का प्रयत्न किया है । फिर भी उन गीतों में माधुर्य अवशिष्ट रह गया है यह निःसंकोच माना जा सकता है । अनुवाद सरल है ।

इन्सांन या शैतान [2]

'इंसान या शैतान' अंगरेजी के लोकप्रिय उपन्यासकार राबर्ट लुई स्टीवेन्सन की प्रसिद्ध रचना 'डाक्टर जैकिल एण्ड मिस्टर होइड' का हिन्दी अनुवाद है । कहानी कुतूहलोत्पादक, रोमांचकारी तथा रहस्य से भरी हुई है ।

कहानी में व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है ! पुस्तक के अन्त में स्टीवेन्सन की मार्खीम' नामक मनोवैज्ञानिक कहानी भी दी गई है ।

अनुवादक देवेन्द्रकुमार का अनुवाद अच्छा नहीं बन पड़ा । भाषा की दृष्टि से अशुद्धता है । भाषा में कुतूहल उत्पन्न करने की वह शक्ति नहीं जो मूल उपन्यास में है । यही इसकी सबसे बड़ी कमी है ।

—कुन्दनलाल उप्रेति

१—मूललेखक—जेम्स एलन अनुवादक—महावीर अधिकारी पृष्ठ १२८ अनुवादक का नाम मूल लेखक के नीचे दिया जाना चाहिए था)

२ पृष्ठ १३६

१ पृष्ठ १५१ २ पृष्ठ ११२

हिन्दी परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये

आलोचनात्मक अध्ययन

प्रश्न और उत्तर में

१.	प्रेमचन्द	—श्री राजनाथ शर्मा	२।।)
२.	कबीर	”	२।।)
३.	निराला	”	२।।)
४.	सुमित्रानन्दन पन्त	”	२।।)
५.	ग़बन (प्रेमचन्द)	”	१।)
६.	गोदान ”	”	२।।)
७.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	”	२।।)
८.	हिन्दी भाषा का इतिहास	”	२।।)
९.	तुलसीदास	—प्रो० भारतभूषण 'सरोज' एम० ए०	२।।)
१०.	भाषा विज्ञान	”	२।।)
११.	साहित्यालोचन	”	२।।)
१२.	बिहारी	”	२।।)
१३.	जायसी	”	२।।)
१४.	उद्धव शतक (रत्नाकर)	”	२।।)
१५.	कामायनी (प्रसाद)	”	१)
१६.	प्रियप्रवास (हरिऔध)	”	१)
१७.	साकेत (गुप्त)	”	१।।)
१८.	सूरदास	—श्री वासुदेव शर्मा शास्त्री	२।।)
१९.	कवि प्रसाद	—डा० शम्भुनाथ पाण्डेय	२।।)
२०.	गद्यकार प्रसाद	”	२।।)
२१.	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	—श्री रामजीलाल बधौतिया	२।।)
२२.	संस्कृत साहित्य का इतिहास	—डा० द्वारिकाप्रसाद	२।।)
२३.	विद्यापति	—श्री मुरारीलाल उप्रैतिः एम० ए०	२)
२४.	केशवदास	—श्री जयकिशनप्रसाद एम० ए०	२।।)
२५.	चिन्तामणि	—श्री राजनाथ शर्मा एम० ए०	३।।)
२६.	चन्द्रगुप्त	—डा० शम्भुनाथ पाण्डेय	२।।)

विनोद पुस्तक मन्दिर हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—भोलानाथ अग्रवाल, मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।